तीसरी भूख

लेखक
अनन्त गोपाल शेवड़े

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता ५, खुसरू बाग रोड, इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण

मूल्य २॥)

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१
मुद्रक
देश सेवा प्रेस, हीवेट रोड, इलाहाबाद।

लेखक का निवेदन

कृपालु पाठकों के सामने अपने १२ ललित निबन्धों का संग्रह पेश करते हुए मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। यदि इनके पढ़ने से उन्हें निराशा न हुई तो मैं अपने आपको कृतार्थ समझूँगा।

इनमें से आधे निबन्ध जेल में लिखे गये हैं और आधे बाहर। ये सब 'सरिता', 'राष्ट्र भारती', 'मानवता' तथा 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। उनके विद्वान् सम्पादकों ने इन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने की इजाज़त दी, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

साहित्य-शास्त्रियों ने निबन्धों के विविध प्रकार बताये हैं, पर उनकी न तो नपी-तुली व्याख्या ही की जा सकती है और न उनकी नपी-तुली सीमा-रेखाएँ ही निर्धारित की जा सकती हैं। क्योंकि निबन्ध मुख्यत: आत्माभिव्यंजक होता है, जिसमें लेखक की अन्तर्वृत्ति का निरूपण रहता है। जितने व्यक्ति होते हैं उतनी ही प्रवृतियाँ होती हैं। इसलिए निबन्धों के प्रकार भी अनगिनती हो सकते हैं। यह तो लेखक के व्यक्तित्व पर, उसके अनुभव, अध्ययन तथा अवलोकन पर अवलम्बित रहता है। वह क्या कहता है और किस प्रकार कहता है, इसी पर उसके निबन्ध की सफलता या असफलता निर्भर है। दुनिया के कभी न रुकने वाले चक्र में, जीवन के इस विशाल, अनिर्बन्ध प्रवाह में, उसने क्या देखा, क्या सुना,

क्या गुना और अपने जीवन के रंगों को मिलाकर उसमें से उसने कौन सा सत्य, कौन सा शिव, कौन सा सौन्दर्य निर्माण किया, यह सब उसके आत्माभिव्यंजक निबन्धों से ज्ञात हो सकता है। वह चलता तो है दुनिया को देखने और उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करने, पर वह यह भूल जाता है कि इस तरह वह स्वयं दुनिया के सामने इम्तहान दे रहा है ताकि लोग देखें और फ़ैसला करें कि वह ख़ुद कितने पानी में खड़ा है ?

इसलिए इन निबन्धों के बारे में कुछ भी कहना मेरा काम नहीं है। मैं तो केवल अपने साहित्य-प्रेमी पाठकों का कृतज्ञतापूर्वक मंगल-स्मरण कर इन निबन्धों को हिन्दी-संसार की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ—ये भले हों तो, बुरे हों तो! उनकी स्वीकृति हिन्दी-जगत् की उदारता की परिचायक होगी, निबन्धों के कला-गुण की नहीं।

नागपुर
३० जुलाई ५५

अनन्त गोपाल शेवड़े

क्रम

तीसरी भूख

भाइयो और बहनो !

शाम हुई कि गाँव के चौक में गैस की बत्ती लगी, एक छोटी-सी मेज़ लगा दी जिस पर खद्दर की रंगीन बेलबूटेदार चादर बिछा दी गयी और एक टेढ़ी-मेढ़ी कुर्सी। पास ही एक खम्भे से तिरंगा झण्डा लगा हुआ है। मेज़ के सामने सौ-दो-सौ लोग जमा हैं और यदि गाँव बड़ा है तो हज़ार-पाँच-सौ। और जनाब तान कर भाषण हो रहा है—भाइयो और बहनो !

वक्ता महोदय की पोशाक भी परिचित है......वही खद्दर का लम्बा कुरता, धोती या पैजामा, जवाहर जैकेट और सिर पर तिरछी टोपी। अगर वक्ता महोदय शहर से आये हों तो आँखों पर चश्मा और हाथ में घड़ी भी नज़र आ जायेगी। सारे शरीर को हिला-हिलाकर श्रोता समुदाय के प्रत्येक हिस्से की ओर गर्दन घुमा-घुमाकर और मेज़ पर मुक्का मार-मार कर ज़ोर के साथ कहा जा रहा है—भाइयो और बहनो !

तीसरी भूख

आख़िर बात क्या है जो भारतवर्ष के भाइयो और बहनो का इस तरह ललकार-ललकार कर आह्वान किया जा रहा है ? और क्या कहा जा रहा है ?......

यही कि हमारे देश में इनक़लाब हो रहा है, हमारी आँखों के सामने इतिहास बन रहा है, हमें आज़ादी हासिल करनी है और इसके लिए हमें ख़ून की नदियाँ बहानी पड़ेंगी। हमको अपना सर्वस्व त्याग देने के लिए तैयार हो जाना चाहिए, भारत माता पुकार रही है...वग़ैरह वग़ैरह !

स्वतंत्रता मिलने के पहले इस तरह के दृश्य गाँव-गाँव में और नगर-नगर में दिखायी देते थे। एक वक्त था जब हमें विदेशी सत्ता के ख़िलाफ़ वातावरण तैयार करना था और देहात-देहात में जागृति पैदा करनी थी, तब इस तरह की सभाओं ने बड़ा भारी काम किया। हमारे देश की स्वतंत्रता के संग्राम में इन भाषणों ने प्रायः उतना ही काम किया जितना कि राष्ट्रीय समाचार-पत्रों ने। और उन राजनीतिज्ञों और राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के प्रति हमारे दिल में इज़्ज़त होना बिलकुल स्वाभाविक है, जिन्होंने संग्राम-ज्वाला को प्रज्वलित रक्खा। लेकिन इसके साथ ही साथ सच्चे कार्यकर्ताओं के अलावा नकली नेताओं की ऐसी बाढ़ आयी कि अनुयायियों का मिलना तक कठिन हो गया। सारा देश लीडरों से भर गया। आफ़त आ गयी।

इस लीडरी के पीछे धारणा यही थी कि जब तक पाँच-पचीस लोगों के सामने भाषण देते नहीं, तब तक क़दर होती नहीं। लोग भाषण समझें न समझें......एक घण्टा बोलना हमारा काम है,। उसके बाद उसी भाषण की रिपोर्ट स्वयं लिखकर स्थानीय या प्रान्तीय अख़बार में भेज दी और उस में कह दिया कि ज़िले के प्रसिद्ध नेता श्रीमान जी...का ओजस्वी

भाइयो और बहनो !

भाषण हुआ, जनता मंत्र-मुग्ध की तरह एक-एक शब्द सुनती रही, भाषण से जनता में अपार जागृति की लहर फैल गयी है, श्रीमान जी का करतल-ध्वनि के साथ उत्साह-पूर्वक स्वागत किया गया, फूल मालाएँ पहनायी गयीं......इत्यादि इत्यादि ।

गांधी जी ने कहा है कि विधायक कार्यक्रम अपनाओ, ठोस काम करो । श्रीमान जी ने कहा, तुम रात्रि की पाठशाला चलाओ, हम उसका उद्घाटन कर देंगे । तुम चरखा चलाओ हम उसके महत्व पर सार-गर्भित भाषण दे देंगे । हम दौरा करेंगे, संगठन के महत्व पर भाषण देंगे । बाकी काम तुम्हारा, बोलने का काम हमारा । यानी और कोई काम करने की ज़रूरत नहीं है, सिर्फ़ बोलने का ही काम है । जब देखो तब चर्चा, वाद-विवाद, सभा-परिषद और भाषण ! मानो बोलने का रोग ही हो गया है ।

काम और अक़्ल की कोई बात हो तो उसमें कहने वाले का कल्याण है और सुननेवाले का भी । समाज का कल्याण है और देश का भी । लेकिन बात सिर्फ़ इसीलिए करना है कि उससे व्यक्तिगत प्रतिष्ठा बढ़े । 'लीडरी' कमायी जाय तो ऐसे भाषण जितने कम हों उतना ही अच्छा । आज़ादी की लड़ाई में या चुनाव के जमाने में यदि कुछ व्यवस्थित भाषण दिये जायँ तो बिलकुल सही बात है । लेकिन जब ठोस कार्य करने का समय आ गया है और राष्ट्र-निर्माण के कार्य की ज़िम्मेदारी आ गयी है, उस समय बोलना बंद करना ही सबसे बड़ा काम है । क्योंकि जब तक बोलना बंद न हो, तब तक काम कैसे शुरू हो सकता है ?

और ये भाषण-बहादुर लोग उतने ही रण-बहादुर होते तो बात भी थी । लेकिन कई तो भाषण देने के समय सबसे अव्वल रहते हैं और जहाँ लड़ाई शुरू हुई और आँच लगने का समय आया कि पहले रणछोड़ बन जाते हैं ।

मेरे एक सार्वजनिक कार्यकर्ता मित्र की यही तारीफ़ थी। उनका काम था कि जब कोई कांग्रेस-कर्मी सत्याग्रह करने निकलता हो और जेल जा रहा हो तो उसकी बिदाई में सत्कार-समारंभ का आयोजन करना और ज़ोरदार भाषण देकर सत्याग्रही महाराज का गुण-गान करना और जनता से अपील करना कि वह उनका आदर्श अपनी आँखों के सामने रखे और उसे अपने जीवन में उतारने की कोशिश करे। उसके बाद वे छुट्टी ले लेते थे और तभी सामने आते थे जब कि सत्याग्रही महाशय जेल से छूटकर आ जायँ और फिर उनकी स्वागत-सभा का आयोजन हो। उस दिन फिर एक लम्बा भाषण होता, जिसमें अतिथि महोदय का जेल की घोर यम-यन्त्रणाओं को भोगने के लिए गौरव-गान किया जाता और पुष्प-मालाओं से सत्कार किया जाता। जेल के अहाते के पास फटकने का वे महाशय कभी नाम न लेते। स्वतंत्रता संग्राम या सत्याग्रह जारी रहता, तब वे नगर छोड़कर 'देश' चले जाते जो अक्सर दूर उत्तर हिन्दुस्तान की किसी रियासत में रहता।

ये साहब मुझे १९४२ में जेल में मिल गये। मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"कहिए साहब, स्वागत करते-करते अब ख़ुद का स्वागत करा लेने की हविस पैदा हुई, जो इस बार जेल में आ धमके?"

"क्या बतायें साहब, बड़ी आफ़त में फँस गये। अपनी मर्ज़ी से थोड़े ही आये हैं? रात की ढाई बजे की गाड़ी से हम आगरा जाने ही वाले थे...सारी तैयारी हो गयी थी। लेकिन न जाने पुलिस को कहाँ से पता चल गया, एक बजे रात को ही घर पर छापा मारा और हमें यहाँ बन्द करा दिया। पुलिस को यदि डेढ़ घण्टे की देर हो जाती तो फिर हम थोड़े ही उनके हाथ लगने वाले थे? लेकिन क्या करें?"

और मैंने देखा कि यह स्वागत करा लेना उन्हें बहुत अखर रहा

था। कई बार तो दरख़्वास्त दी कि वे बेगुनाह हैं, बेमतलब गिरफ़्तार किये गये हैं। अपनी मौसी और सास की बीमारी का बहाना बताया, पैरोल माँगी...लेकिन रिहाई नहीं हुई। सात महीने जेल में रगड़ खाने के बाद जनाब छूटे तो सूरत यही बता रही थी कि जान बची लाखों पाये। बाद में मुझे पता नहीं चला कि औरों का स्वागत करने का उनका उत्साह पहले की ही तरह बना रहा या नहीं।

ऐसे महानुभावों के भाषणों का किसी पर क्या असर पड़े? वे किसी की तारीफ़ करें तो क्या और बुराई करें तो क्या? स्वागत करें या न करें, तो क्या?

बेकार बोलने का मर्ज़ राजनीतिज्ञों में है सो बात नहीं। वह सब जगह फैला हुआ है। हर क्षेत्र में आपको इस रोग से पीड़ित रोगी दिखायी देंगे।

एक बार काकासाहब कालेलकर ने मुझे एक घटना बतायी। काशी जी के गंगाघाट में उन्होंने देखा कि दो साधू ज़ोर-ज़ोर से आपस में वाद-विवाद कर रहे हैं। काकासाहब ने ध्यान से सुना, आख़िर चर्चा का विषय क्या है? तीन घण्टे बहस चली और उसमें विषय यही था कि मौन रखने से क्या-क्या फ़ायदे हैं।

हमारे एक मित्र सरकारी ओहदेदार हैं। उनके काम का एक बहुत बड़ा हिस्सा है—लोगों को 'इंटरव्यू' देना और जनता की शिकायतें सुनना, उससे सम्पर्क स्थापित करना। मैं जब उनसे मिलने गया तो उन्होंने एक घण्टा सिर्फ़ यही बतलाने में ले लिया कि आजकल काम की अधिकता के कारण उन्हें एक मिनट की भी फ़ुर्सत नहीं मिलती।

अगर भाषण सभी लोग देने लगें और बार-बार देने लगें तो उनकी क्या क़द्र हो ? लोग अक्सर भाषण सुनने जाते हैं, पर उन भाषणों से बोलने वालों को छोड़ कर और किसी को दिलचस्पी नहीं रहती।

एक बार हम भी बड़ी मुसीबत में फँस गये। हमारे प्रदेश में गणेशोत्सव का काफ़ी महत्त्व है। उस समय कई स्थानों में लोग भाषणों के लिए बुलाये जाते हैं। उन दस दिनों में भाषणों की बड़ी धूम रहती है और वक्ताओं को पहले से पक्का कर लिया जाता है ताकि ऐन वक्त पर गड़बड़ न हो जाय। भाषणों के इस मौसम में हमारे पास दो विद्यार्थी आये और कहा कि कांग्रेस की भूमिका के बारे में हम उनके 'गणेश समाज' में भाषण दें। थोड़ी देर आना-कानी की, क्योंकि उनका सभा-स्थान बहुत दूर था। ताँगे से एक घण्टा तो पहुँचने में ही लगता था। लेकिन उन्होंने आग्रह किया तो मान गये। भाषण का स्थान-समय सब कुछ नोट कर लिया। बीच में तीन दिन थे, काफ़ी मेहनत करके भाषण के 'नोट्स' बना लिये। सोचा कि चलो इस भाषण के बहाने कुछ अध्ययन ही हो जायगा। उस दिन धोबी के धुले कपड़े पहनकर सभा-स्थल में पहुँचे, जो एक शंकर जी के मन्दिर में था। स्वागत के लिए उन दो युवकों में से एक साहब हाज़िर थे। सभा शुरू होने के लिए सिर्फ़ पाँच मिनट बाकी थे। वहाँ देखा तो श्रोता के नाम पर एक आदमी भी नहीं ! बस शंकर जी जी का दर्शन करने लोग आते थे और चले जाते थे। मेरे निमंत्रक विद्यार्थी महाशय ने उनसे काफ़ी आरजू-मिन्नतें कीं, "कैनवेसिंग" की कि एक बड़े विद्वान भाषण देने के लिए आये हैं, सुनने से बड़ा लाभ होगा, लेकिन वे एक बार मेरी सूरत-शकल देख लेते और दूसरे दरवाज़े से खिसक जाते। आयोजक शर्म के मारे गड़े जाते थे कि पाँच सौ छपे हैन्डबिल बाँटने के बाद पाँच आदमी भी इकट्ठे नहीं हो सके। मेरे

सामने मुँह छिपाते। मैं तो बैठे-बैठे तमाशा देख ही रहा था। जब पौन घण्टा इन्तज़ार किया गया और आयोजकों ने कोशिश की तो बड़ी मुश्किल से पाँच आदमी इकट्ठे हुए। विद्यार्थी महाशय ने कहा कि अब आप भाषण दे ही डालिए। शुरू होने के बाद और लोग आ जायेंगे। हमने अपनी 'ड्यूटी' पूरी कि......आख़िर हमने भी तो भाषण तैयार करने में मेहनत-मशक्कत की थी। जब चालीस मिनट का भाषण समाप्त हुआ तो श्रोताओं की संख्या बढ़कर सात तक पहुँच गयी थी। बेमतलब लोगों पर भाषण लादे जायँ तो इसके सिवा भला और क्या नतीजा निकल सकता है ?

एक साहित्य-सम्मेलन की बात है जिसमें मैं एक अख़बार के प्रतिनिधि की हैसियत से शरीक़ हुआ। बहुत शानदार जलसा हुआ। काफ़ी पैसा ख़र्च किया गया। साहित्यिकों के पास सरस्वती भले ही रहे, लक्ष्मी तो रहती नहीं। इसलिए साहित्यिक आयोजकों को लक्ष्मी-पुत्रों की शरण लेनी पड़ी। एक धनिक व्यवसायी को जो 'नाइट' और 'ओ० बी० ई०' इत्यादि का खिताब पाये थे, स्वागताध्यक्ष बनाया गया, सिर्फ़ शोभा के लिए तथा उनके धन के लिए। काम सब किया साहित्यिक प्रधान मंत्री महोदय ने। उनका परिश्रम था और लक्ष्मीपुत्र का यश। अन्त में सम्मेलन का उपसंहार हुआ और धन्यवाद देने के लिए स्वागताध्यक्ष महोदय खड़े हुए। दुर्भाग्य से उनका भाषण लिखित और मुद्रित नहीं था। वे बोले—

"मैं तो स्वागताध्यक्ष बरायनाम था। जो कुछ मेहनत की है वह प्रधान मंत्री श्री......जी ने। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनकी आत्मा को शांति दे।"

बेचारे प्रधान मंत्री महोदय ! जीते-जागते ही स्वर्ग पहुँचा दिये गये ।

एक वक्ता महोदय पुरातनवादी थे । आर्य नीति-नियमों का पालन करने में दक्ष थे । एक मेले में हिन्दू-धर्म के महत्व पर भाषण देने गये । श्रोताओं में पुरुष भी थे, स्त्रियाँ भी थीं । भाषण शुरू करने के पहले उनकी नज़र स्त्री समुदाय की ओर गयी तो अकस्मात देखा कि उनकी धर्म-पत्नी भी बच्चे को गोद में लेकर उनकी ओर कान लगाये बैठी हैं । वे जब भाषण देने उठ खड़े हुए तो बोले—

"भाइयो, और कल्लू की माँ को छोड़ कर, बहनो !" सारी सभा हँस पड़ी । औचित्य के बारे में इतनी सतर्कता बरतने में उनके जैसे वे ही अकेले थे ।

मौसम-बेमौसम बोलने की इच्छा के कारण पेशेवर वक्ताओं का एक वर्ग ही बन गया है । जिस तरह कुछ जातियों में मृतक के शरीर के पास रोने के लिए पेशेवर रोनेवाले बुलाये जाते हैं, वैसे ही ये सभा-सोसाइटियों की शोभा बढ़ाने के लिए भाषण देने के लिए बुलाये जाते हैं । अपनी साधारण बुद्धि के कारण वे किसी भी प्रसंग को निभा ले जाते हैं । लेकिन कभी-कभी बड़ी मुसीबत में भी फँस जाते हैं ।

एक बार बड़े मज़े की घटना हुई—किसी कालेज की हिन्दी साहित्य समिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पुण्यतिथि मनायी जा रही थी । उसके लिए पंडित माखनलाल चतुर्वेदी को अध्यक्ष बनाया गया था । जिस समय वे समारोह में जाने के लिए मोटर में चढ़ ही रहे थे कि उनसे मिलने के लिए कांग्रेस-कमेटी के प्रधान महोदय आ धमके । चतुर्वेदी जी ने उनसे भी आग्रह किया कि वे भी समारोह में उपस्थित हों । अगर प्रधान महोदय केवल उपस्थित ही रहते तो शोभा बनी रहती । लेकिन उन्हें

भाषण देने का रोग जो था। समिति के मंत्री ने उनसे शिष्टाचार के नाते प्रारम्भिक भाषण देने के लिए कहा। अब प्रधान महोदय तो राजनीति में निपुण थे और दैनिक अख़बार पढ़ कर अपना ज्ञान 'अप-टू-डेट' रख लेते थे। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में वे बिलकुल ठेठ थे। अच्छा होता यदि वे शिष्टाचार के आग्रह से अपने आप को बचा लेते। लेकिन न माने, भाषण देने उठ खड़े ही हुए। अपने मुखारबिंद से फूल बरसाने लगे !

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भला भारतवर्ष में कौन नहीं जानता। सत्य के लिए जिसने अपनी स्त्री और पुत्र को भी बेच डाला और स्वयं चाण्डाल की चाकरी करने को उद्यत हो गया, उस परम सत्यवादी हरिश्चन्द्र को कौन नहीं जानता ?......" और इस तरह उस साहित्य-मण्डली में आपने अपनी विद्वत्ता का धड़ाके के साथ प्रदर्शन कर डाला। सभा में लोगों को काटो तो ख़ून नहीं। विद्यार्थियों ने शोर-गुल मचाया, जूते थपथपाये, सीटियाँ बजायीं तब कहीं जाकर छुट्टी मिली। बोलने के रोगी यदि इतना भी जान लें कि किस जगह बोलना इष्ट नहीं तो बहुत है। लेकिन इतना भी जानना आसान कहाँ ?

बोलने के मर्ज़ के शिकार इस बात की कोशिश करेंगे कि उनकी जिह्वा के गुणों के प्रदर्शन के लिए सभाओं का विशेष आयोजन हो। कई नेतागण तो दौरे पर, अगले स्थान पर पहुँचने के पहले ही तार दे देते हैं कि "फलाँ गाड़ी से आ रहा हूँ, स्वागत और सभा का इन्तज़ाम हो।" जब इस क़दर ज़बरदस्ती की सभा करायी जाय तो उसमें उपस्थिति की ज़िम्मेदारी कौन ले ? एक स्वामी जी के दौरे में यही बात हुई। शुद्धि और संगठन के ज़माने में वे धुआँधार दौरा कर रहे थे। अंधे थे इसलिए स्वाभाविकतः उनके प्रति लोगों को सहानुभूति थी। फिर भी उनके

भाषणों का दौरा इतना ज़ोर से चलता कि लोग ऊब जाते। एक बार सभा का आयोजन किया गया तो दो-ढाई सौ से ज़्यादा लोग इकट्ठा न हो पाये, जब कि दस हज़ार की उम्मीद की गयी थी। आयोजक जरा शर्मिंदा हुए। स्वामी जी ने भाषण करने के पहले पूछा—"कितनी उपस्थिति है?"

"कोई पाँच हज़ार होगी स्वामी जी," आयोजक महोदय बोले। स्वामी जी ने गला साफ़ कर आवाज़ चढ़ा कर भाषण देना शुरू किया—

"भाइयो और बहनो......"

पाँच मिनट भाषण देने के बाद उन्हें कुछ शक हुआ। रुके और आयोजक महोदय की ओर मुड़कर बोले—"जनता इतनी शांत क्यों है?"

"मंत्र-मुग्ध की तरह आपके भाषण को सुन रही है स्वामी जी!"

"ऐसा?" स्वामी जी प्रसन्नता से फूल उठे और दुगुने ज़ोर से बोलने लगे—

"भाइयो और बहनो!

आज तो हमारे देश में बोलने वालों की बाढ़ आ गयी है। गांधी जी ज़िन्दगी भर यही कहते आये कि बोलो कम, काम अधिक करो। वे स्वयं बड़े कामकाजी व्यक्ति थे। फालतू बातों के लिए तो उनके पास वक्त भी नहीं रहता था। फिर भी लोगों के सामने उदाहरण रखने के लिए वे सप्ताह में एक दिन मौन रहते।"

हम लोग यदि यही सीख लें कि मौन कब रहा जाय और बात कब की जाय तो सचमुच ज्ञानी हो जायँ। लेकिन आदत से जो लाचार हैं? अपनी जीभ पर अपना क़ाबू न रखने से क्या अनर्थ होता है इसकी एक दिलचस्प कहानी है।

एक ब्राह्मण के तीन लड़के थे। देखने में तीनों स्वस्थ और सुन्दर थे, लेकिन उनमें एक ही दोष था कि वे बात करते तुतलाते थे, इसलिए

वयस्क होने के बाद भी उनका विवाह नहीं हो पाया था। एक दिन दूर देश से कोई महाशय आये जिन्हें अपनी कन्या के लिए वर खोजना था। उन्होंने इन तीन ब्राह्मण-पुत्रों की कीर्ति नहीं सुनी थी। इसीलिए विवाह हो जायगा, इसकी उम्मीद भी बँधी।

वर-परीक्षा के लिए तीनों को एक लाइन में बैठा दिया गया। उनके पिता ने सोचा, जिस किसी को पसन्द कर लिया जाय, उसी का विवाह हो जायगा। एक-तिहाई सवाल हल हुआ। बैठाने के पहले उन्हें साफ़-साफ़ हिदायतें दी गयीं कि वे ज़बान से एक शब्द भी न बोलें। जो कुछ कहना-सुनना है, उनके पिता जी कर लेंगे।

कन्या के पिता ने मुलाहिज़ा शुरू किया। पहले पुत्र के चेहरे पर नज़र गड़ायी। मालूम हुआ कि वे पसन्द न आये। बड़े पुत्र महाशय ने यह देखकर कि अब लड़की हाथ से जाती है, अपनी सिफ़ारिश में अपनी मातृभाषा बुन्देलखण्डी में कह डाला......"टंडन लडे हैं टब डेठियो।" (चंदन लगे हैं तब देखियो)।

कन्या के पिता ने एकदम मुँह फेर कर दूसरे पुत्र का मुआयना शुरू किया तो देखा कि वे अपने बड़े भाई से कह रहे थे—"डड्डा ने टा टई ठी टि बोलियो मटी" (दद्दा ने का कही थी कि बोलियो मती।)

तीसरे भाई यानी छोटे मियाँ एकदम ख़ुश हो उठे कि अब दोनों की नापसन्दगी के बाद तो कन्या उन्हीं के गले में हार डालेगी। इस ख़ुशी में वे आपे में नहीं रहे। बोले—"टुम डोनो ने टो बोल डई अम हो टुप्पई-टाप।" (तुम दोनों ने तो बोल दई हम तो चुप्पई-चाप)

कन्या के पिता ने अँगोछा उठाया और चलते बने। बेचारे तीनों ब्राह्मण पुत्र और उनके पिता टापते ही रह गये। अपने करम को कोसने के सिवा कुछ न करते बना। लड़की हाथ से गयी सो गयी।

तीसरी भूख

संस्कृत का यह सुभाषित बिलकुल ठीक ही है—"तावच्च शोभते मूर्खः यावत् किञ्चित भाषते।" अर्थात् मूर्ख की शोभा तभी तक है जब तक वह भाषण के लिए ज़बान नहीं खोलता। इसलिए......

भाइयो और बहनो!

यदि हम अपनी जबान पर क़ाबू नहीं रखेंगे तो पता नहीं हमारी गति उन तीन ब्राह्मण-पुत्रों की तरह न हो जाय।

क्या आपने वह पुस्तक पढ़ी है ?

"क्या आपने प्लेटो की रिपब्लिक पढ़ी है ?"

"जी नहीं ।"

"मारकस ऑरिलियस या एपिक्टीटस ?"

"नहीं ।"

"अरे ! कनफ्यूशियस ?"

"नहीं ।"

"वह भी नहीं तो बाल्मीकि रामायण तो ज़रूर पढ़ी होगी ?"

"नहीं साहब, वह भी नहीं पढ़ी ।"

"तो कालिदास का रघुवंश, मेघदूत या शाकुंतल?"

"जी नहीं, वह भी नहीं ।"

"ओ हो हो । महाशय, तब शायद आपको पढ़ने का शौक ही नहीं दीखता है । देखिए, ये विश्व साहित्य के अमर कलाकार और चिन्तक

हैं। आजकल की नयी रोशनी के ज़माने में इनमें से कुछ तो ज़रूर पढ़ लेने चाहिए।"

इस तरह का वार्तालाप, ऐसी सलाह आपको कई जगह मिलेंगी। और 'न-न' कहते-कहते आपको भी शायद यह महसूस होने लगे कि विद्वानों के इस युग में आपके लिए कोई स्थान नहीं है। आप मन ही मन शर्मिन्दा भी होंगे। लेकिन असलियत तो यह है कि आपको ज़रा भी लज्जित होने की ज़रूरत नहीं है। आपकी योग्यता इस पर अवलम्बित नहीं है कि आपने कितनी किताबें पढ़ीं हैं, वरन् इस पर है कि जो आपने पढ़ी हैं वे ठीक से हज़म की हैं या नहीं ?

आजकल किताबों, अख़बारों और छापाखानों के इस ज़माने में, यह फ़ैशन-सा हो गया है कि हम पुस्तकों की चर्चा करें, ठीक उसी तरह जैसे सिनेमा, फ़िल्मों और अभिनेताओं की चर्चा की जाती है। और जहाँ सिर्फ़ फ़ैशन का ही ख़याल है वहाँ, माफ़ कीजिए, ख़तरे की लाल झण्डी दिखाना ज़रूरी है। क्योंकि सोसायटी में जो किताबों इत्यादि की बातचीत होती है, उसमें गहराई या गम्भीरता कम होती है, दिखाऊपन ज़्यादा होता है। हर हालत में ऐसा तो नहीं होता, लेकिन आमतौर पर यह सही है।

एक पादरी साहब को यह बतलाने का बहुत शौक था कि उन्हें पढ़ने से बड़ी रुचि है। उनके एक ज़िगरी दोस्त ने, जो उन्हें अच्छी तरह जानता था, और रोज उनके यहाँ जाया करता था, उन्हें ग्रीक साहित्य की एक बड़ी अच्छी पुस्तक लाकर दी। जब उस दोस्त के आने का वक्त होता तो पादरी साहब झट से वह किताब खोलकर पढ़ने लगते और उसी जोर में १५-२० पन्ने पढ़ डालते। मित्र देखकर मन ही मन हँसता, लेकिन बातचीत के दौरान में, पादरी साहब की नज़र बचाकर, वह रोज

पढ़ने का निशान उठाकर १५-२० सफ़े पीछे रख देता । वह सिलसिला चार-पाँच रोज चलता रहता। दोस्त ने पूछा, "कहिए साहब, किताब पसन्द आयी ?"

"वाह, बहुत अच्छी किताब है। मैंने ऐसी पुस्तक नहीं देखी थी। लेकिन माफ़ कीजिए, इसमें वही बात बार-बार दुहराकर कही गयी है।"

या फिर आपका मेरे उन दोस्त महाशय के बारे में क्या खयाल होगा, जिन्हें किताब पढ़ने की बजाय ख़रीदने का ज़्यादा शौक था ? भाग्यवशात लक्ष्मी देवी की उनपर कृपा थी। कोई भी मार्के की नयी पुस्तक प्रकाशित हो, वे ज़रूर मँगा लेंगे और उसके कवर पर जो आलोचनाएँ लिखी रहती हैं, या 'लिटररी रिव्यू' में उसके बारे में जो लेख छपते हैं, उनके बल पर अपनी राय क़ायम करके समाज में अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हुए घूमते फिरेंगे। उनसे मैंने नोबुल पारितोषक विजेता की एक नयी पुस्तक पढ़ने के लिए माँगी, जिसका पार्सल सिर्फ़ दो हफ़्ते पहले आया था। मैंने माँगते समय संकोच किया, कहीं उनका पढ़ना ख़त्म न हुआ हो।

"नहीं-नहीं, ख़ुशी से ले जाओ, मैं इसे पूरा पढ़ चुका हूँ।" वे बोले, मुझे तसल्ली हुई। घर आकर देखा तो पाया कि उसके अन्दर के कई पन्ने जुड़े हुए हैं।

ज़रा एक और किस्सा सुन लीजिए। एक मीर साहब थे, जो बड़े सरकार परस्त और ख़ुशामदी थे। सरकार ने उनकी ख़िदमत की दाद दी और बादशाह के जन्मदिन पर उन्हें "खान साहब" का ख़िताब बख़्शा गया। फिर क्या पूछना है। ख़ुशी-ख़ुशी बड़े साहब (डिप्टी कमिश्नर) के यहाँ सलाम करने तथा उनका शुक्र अदा करने पहुँचे। अफ़सोस यही था

कि ख़ुद-बख़ुद बादशाह की क़दम बोसी करने का कोई मौक़ा नहीं था। बड़े साहब ने मुबारकबाद के साथ एक 'फ्रैंडली' सलाह दी—

"देखिए ख़ान साहब, अब आपको गवर्नर की कोठी पर जाना पड़ेगा। बड़े-बड़े हाकिमों की पार्टियों में शरीक़ होना पड़ेगा। अच्छा हो यदि आप थोड़ी-सी अंग्रेज़ी सीख लें।"

"बहुत बेहतर हुज़ूर। ए-बी-सी तो मैं जानता ही हूँ, लेकिन इतने से काम नहीं चलेगा, कुछ और तरक्की करनी होगी। क्या आप अंग्रेज़ीइ ल्म हासिल करने का कोई आसान तरीका बतला सकते हैं?"

"हाँ हाँ, क्यों नहीं? आप रोज़ एक अंग्रेज़ी अख़बार पढ़ा कीजिए—'टाइम्स आफ इण्डिया' से बढ़कर और कौन-सा अख़बार हो सकता है?"

"बहुत बेहतर हुज़ूर, शुक्रिया, शुक्रिया।" कहकर मीर साहब घर लौटे और फ़ौरन टाइम्स के एजेण्ट को आर्डर दे दिया और बावर्ची को हिदायत दे दी कि सुबह चाय के साथ उनका अंग्रेज़ी अख़बार भी उनकी मेज़ पर ज़रूर रखा जाय।

'टाइम्स' आना तो शुरू हो गया लेकिन वह मीर साहब के मन में दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका। उनकी ए-बी-सी काम नहीं आयी क्योंकि बार-बार उलट-पुलट कर भी उसमें से उन्हें कुछ ख़ास समझ में न आया। हाँ कुछ फोटू-वोटू दीख जाते थे। ख़ैर, चूँकि बड़े साहब का हुक्म था इसलिए टाइम्स मँगाना बन्द तो नहीं किया जा सकता था, लेकिन वह मेज़ पर जैसा आया हुआ रखा जाता वैसा ही लौट जाता। बावर्ची ने यह देखा, लेकिन चाय के वक्त अंग्रेजी अखबार मेज़ पर रख देने की रस्म अदा करने में वह कभी न चूका। यह ज़रूरी नहीं था कि रोज़ ताज़ा अंक ही पेश किया जाय।

लेकिन एक दिन मीर साहब खफ़ा हो गये। बोले—

क्या आपने वह पुस्तक पढ़ी है ?

"क्यों बे उल्लू, तू कल का ही अख़बार आज फिर रख गया ?"

"नहीं हुज़ूर, मैंने तो नया अख़बार रखा है।" बावर्ची घबड़ाकर बोल उठा। यह बात नयी तो नहीं थी लेकिन आज ही उसका भण्डाफोड़ कैसे हुआ ?

"अबे हुज़ूर के बच्चे। तू मुझी को सिखाता है ?" आँखों की तेवरियाँ चढ़ाते हुए मीर साहब ने कहा, "जैसे मैं अंग्रेज़ी नहीं जानता। जरा देख तो कमबख़्त ! यह मुर्गी के मैले का पीला दाग़ कल जिस जगह था, ठीक उसी जगह आज भी है, और तू कहता है कि नया अख़बार रखा है ? अब कभी मेरी आँख में धूल झोंकने की कोशिश की तो याद रखना, मुझसे बुरा कोई नहीं।"

"जी हुज़ूर," कहकर बावर्ची चला गया और दूसरे दिन से उसने इतनी सावधानी ज़रूर की कि कम से कम मुर्गी का पीला दाग़ अख़बार पर तो हरगिज़ न रहे।

इस तरह पढ़ने से क्या फ़ायदा ? दिल को झूठी तसल्ली और सामाजिक रोब गाँठने के सिवा इसका और कोई प्रयोजन नहीं होता।

कुछ लोगों का ख़याल है कि जितनी किताबें मिलें, पढ़ डालना चाहिए। जो पढ़ लो, उसमें से पूरा नहीं तो कुछ तो दिमाग़ में बचा ही रहेगा, उतना तो फ़ायदा है ही। अगर यह ठीक है तो फिर वह आदमी जो दिन भर, जब मौक़ा मिले, खाता रहे तो सबसे बड़ा पहलवान हो जाय !

दिमाग़ी ताक़त—शारीरिक शक्ति की तरह जो पाया है उसे हज़म करने पर अवलम्बित है। कोई हर्ज़ नहीं यदि आपने गिनी-चुनी किताबें ही पढ़ी हों, बशर्ते कि आपने दिल लगाकर पढ़ी हों और उसके अच्छे संदेश को हृदयंगम कर लिया हो। एक अच्छी पुस्तक को ध्यान लगाकर

पढ़ना तथा उसके दिव्य हेतु को आत्मसात करके उसे जीवन में उतारना अधिक अच्छा है, बजाय इसके कि सौ किताबें पढ़ना और बाद में उनके लेखकों के नाम तक भूल जाना।

आपको शायद पता होगा कि हिटलर एक भी किताब नहीं पढ़ता था। उसके पास बहुत बड़ी लायब्रेरी थी लेकिन वह ख़ुद उसका उपयोग नहीं करता था। वह तो, उसके पास मिलने के लिए जो शास्त्रज्ञ और विद्वान आते थे, उनसे हज़ारों सवाल पूछकर अपना ज्ञान प्राप्त करता था, छपी हुई किताबों से नहीं।

गांधी जी भी इसी तरह बहुत कम किताबें पढ़ते थे। लेकिन जो किताबें उन्होंने अपने यौवन में पढ़ी थीं, उनका असर उनपर इतना हुआ कि उनके जीवन की दिशा ही उनसे बन गयी। उन पर तीन पुस्तकों का गहरा असर पड़ा। एक तो बाइबिल, जिसकी वजह से उनकी अंग्रेज़ी भाषा बहुत शुद्ध और प्रभावशाली हुई और जीवन ईसामसीह की तरह हुआ। दूसरी रस्किन की 'अन्टू दि लास्ट' (Unto the last) जिसने उन्हें अर्थशास्त्र में क्रान्तिकारी मूल्यों की प्रतिष्ठा करने की दृष्टि दी और तीसरी टालस्टाय की 'वाट दैन मस्ट वी डू' (What then must we do) जिसने उन्हें सामाजिक शोषण की नीति का कट्टर दुश्मन बनाया तथा ग़रीबों की सेवा करने का व्रत—निश्चय दिया। इतनी कम पुस्तकों का इतना व्यापक असर आपको सम्भवतः और कहीं देखने को न मिले।

किसी अच्छी पुस्तक की उपयोगिता इस बात पर अवलम्बित नहीं है कि उसके लेखक ने उसमें क्या लिखा है, लेकिन इस पर है कि आप उसमें से कितना ग्रहण कर सके हैं। अगर आप उस पुस्तक के पास गम्भीरता, हठ, निश्चय और महत्वाकांक्षा को लेकर गये हैं तो वह आपके

लिए हीरे की खान साबित हो सकती है। लेकिन आप यों ही ध्येयहीन चहलक़दमी के इरादे से उसकी पगडंडियों में घूमना चाहते हैं तो आप को वहाँ सिवा काले पत्थर के कुछ न मिलेगा, आप ख़ाली हाथ ही लौटेंगे। भले ही वह पुस्तक बाइबिल हो, क़ुरान हो या गीता हो।

गरज़े कि आपने चाहे जो पढ़ा हो, लेकिन उस पढ़ाई के साथ अगर चिन्तन का जोड़ नहीं है तो उससे आप कोई फ़ायदा नहीं उठा सकेंगे। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवियत्री एलीज़ाबेथ बैरट ब्राउनिंग का कथन है—'हम ज़रूरत से ज़्यादा पढ़ लेने की ग़लती करते हैं तथा हमारी पढ़ाई और चिंन्तन में कोई मेल नहीं होता।'[२]

इसलिए अगर आपने ज़्यादा पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं तो आपको लज्जित होने की ज़रूरत नहीं है। हो सकता है, कोई सज्जन आपकी इस 'अनभिज्ञता' पर तरस खाने लगें, पर आप अपने दिल पर उसका असर मत होने दीजिए; क्योंकि छपी हुई किताबों की जगह आपने यदि जीवन की जीती-जागती पुस्तिका की तरफ़ आँखें नहीं बन्द की हैं तो आप बिलकुल सही रास्ते पर हैं और आपको कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

कुछ महाशय एकाध किताब पढ़ लेते हैं तो बस वही उनके दिमाग़ और दिल पर छा जाती है। अगर उन्होंने टालस्टाय पढ़ लिया तो फिर वे सब—जिन्होंने टालस्टाय नहीं पढ़ा, उनकी नज़र से उतर जायँगे। वे जहाँ-कहीं बैठेंगे, बात-चीत करेंगे, वहाँ वे टालस्टाय ही टालस्टाय की चर्चा करेंगे। वे शायद यह भूल जाते हैं कि दूसरों ने टालस्टाय नहीं पढ़ा होगा तो गोर्की, तुर्गनेव या चेख़व पढ़ा होगा या ऐमिल ज़ोला, वाल्टेयर या रूसो पढ़ा होगा और हो सकता है कि उन टालस्टाय-भक्त महाशय ने सिवा टालस्टाय के और कुछ न पढ़ा हो। हमने जो चीज़ पढ़ी और पसन्द की है, वही सब लोग पसन्द करें, यह आग्रह दुरुस्त

नहीं है। हर एक की अपनी-अपनी रुचि होती है, सबको एक ही नाप से नापना फिज़ूल है।

अतः जो सज्जन प्लेटो या कनफ्यूशियस या बाल्मीकि के पढ़ने का दंभ करते हैं और अपने उस अध्ययन का अहंकारयुक्त ज़ाहिरा प्रदर्शन करते हैं, उन्होंने वे किताबें भले ही पढ़ ली हों, उनकी आत्मा को—स्पिरिट को—नहीं समझा है, इसलिए उनका अध्ययन और उसका अहंकार बेकार है।

अभी कुछ दिन पहले सीलोन युनिवर्सिटी के वाइसचान्सलर डाक्टर जेनिंग्ज़ ने एक भाषण में कहा कि मैं कालेजों में अंग्रेज़ी के बदले मातृ-भाषा के ज़रिए तालीम देने के पक्ष में नहीं हूँ, क्योंकि फिर हिन्दुस्तानी लोग शेक्सपियर के परम सौन्दर्य का उपभोग न कर सकेंगे। अनुवाद से तो उस नाट्यशिल्पी की सारी कला ही मारी जायगी!—लेकिन जनाबे-आली! शेक्सपियर के न पढ़ने से ऐसा कौन-सा क़हर गुज़रने वाला है, बताइए तो? आपके पास शेक्सपियर है तो हमारे पास कालिदास है। आपके पास मिल्टन है तो हमारे पास सूर, कबीर और तुलसी हैं। और शेक्सपियर के पहले भी हिन्दुस्तान ज़िन्दा था और तमाम दुनिया ज़िन्दा थी और उसके बावजूद भी रहेगी। माना कि वह एक बड़ा कलाकार है, लेकिन इसलिए आप उसे इतना सिर पर चढ़ा रखेंगे?

विश्व में ऐसे करोड़ों लोग हैं जिन्होंने बड़ी-बड़ी किताबें नहीं पढ़ी हैं और न विश्वविद्यालयों की डिगरियाँ प्राप्त की हैं, लेकिन फिर भी उनका काम बड़े मज़े में चलता है। वे अपना रोज़गार, खेती-किसानी, अच्छी तरह जानते हैं और मानवता के मूलधन को लेकर अपनी ज़िन्दगी शुरू करते हैं औ सफलतापूर्वक उसे पूरी करते हैं। हम अपने अहंकार में, उनकी ओर उँगली उठाकर भले ही कहें—'अरे' उन बेचारे अपढ़ लोगों का क्या

जीवन है ?' लेकिन उन्हें हमारी सहानुभूति या दया की ज़रूरत नहीं है। जीवन और दुनिया से सम्बन्ध रखने वाली कई यथार्थ बातें हैं जो वे जानते हैं, लेकिन हम लोग—पढ़े-लिखे विद्वान्—नहीं जानते। बुद्धिमानी का छपी किताबों से कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, पुस्तकें एक साधन मात्र हैं, जो जीवन को समझने में सहायक होती हैं, लेकिन उन्हीं को सब कुछ मान लेना ठीक नहीं है।

एक प्रोफ़ेसर और किसान का किस्सा कहीं पढ़ा था। दोनों साथ सफ़र कर रहे थे। यात्रा की तंगी को दूर करने के लिए प्रोफ़ेसर साहब ने किसान से बात करना शुरू की और यहाँ-वहाँ की कई बातें कीं। किसान भी ज़रा ख़ुश-मिज़ाज़ था, सो वह भी बड़ी दिलचस्पी से बातें करने लगा। दोस्ती यहाँ तक बढ़ गयी कि दोनों ने साथ-साथ पान खाया, प्रोफ़ेसर साहब ने अपनी सिगरेट भी अपने साथी को पिलायी। फिर इतनी मित्रता हो गयी कि प्रोफ़ेसर साहब ने कहा 'मैं पहेली कहता हूँ, तुम उसे बूझो और तुम कहोगे तो मैं बूझूँगा।' किसान ने कहा—'हार-जीत के लिए कोई शर्त ?' तो प्रोफ़ेसर साहब बोल उठे—'एक-एक रुपया।' किसान ने अपनी गाँठ टटोलते हुए कहा—'मेरे पास तो सिर्फ़ एक अठन्नी है, मैं ग़रीब हूँ और आपसे कम पढ़ा हूँ, इसलिए मैं हारा तो सिर्फ़ आठ आने दूँगा और आप हारें तो एक रुपया दीजिए।' प्रोफ़ेसर साहब ने आत्मविश्वास के साथ, उदारतापूर्वक यह शर्त मंजूर कर ली और कहा कि चलो तुम पहले शुरू करो।

किसान ने पूछा—"ऐसा कौन सा प्राणी है जिसके तीन पैर, चार हाथ और पाँच आँखें होती हैं ?"

प्रोफ़ेसर साहब ने सिर खुजला कर कुछ देर सोचा, फिर कहा—"नहीं मालूम भाई; हार गये, लो यह रुपया। अब बताओ क्या जवाब है ?"

"मुझे भी नहीं मालूम, मैं भी हार गया। लीजिए यह अठन्नी लीजिए।" और गाँठ से उसने अठन्नी निकाल कर प्रोफ़ेसर साहब को दे दी और रुपया रख लिया।

यह किस्सा सच हो या न हो, लेकिन किसानों या दूसरे अपढ़ लोगों को महज़ इसीलिए बेवकूफ़ मान लेना कि उन्होंने किताबें नहीं पढ़ी हैं, ग़लत है।

मैं पढ़ने के शौक के खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठा रहा हूँ, सिर्फ़ उसके अनावश्यक महत्व की ओर उँगली उठा रहा हूँ। हम थोड़ी सी चुनी हुई, अच्छी पुस्तकें ही पढ़ें लेकिन ख़ूब दिल लगा कर पढ़ें और उन्हें जीवन में उतारने की कोशिश करें। छपी हुई पुस्तकों के पीछे हम जीवन की सबसे बड़ी पुस्तिका से विमुख न हों, बस। और हाँ, जो पढ़ा है उसके बारे में अहंकार न करें और न अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की कोशिश करें। दुनिया में जो महान ज्ञान और चिन्तन है, उसके मुक़ाबले में हम कितना-सा जानते हैं?

महर्षि सुकरात को हम विश्व का सबसे बड़ा ज्ञानी और चिन्तक मानते हैं, क्योंकि उसने दुनिया को तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र की देन दी है। लेकिन वह भी कहता था—"मैं सिर्फ़ एक ही बात जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता।"

फिर आप हम जैसों की बात ही क्या है?

बड़ी आफ़त है !

●

श्यामसुन्दर ने पन्द्रह दिन की छुट्टी के लिए दरख़्वास्त दी थी। बड़ी मुश्किल से ले-दे कर सात दिन की छुट्टी मंजूर हुई। जब दफ़्तर से उस के हाथ में कागज़ आया तो बोल उठा—"बड़ी आफ़त है! दो साल से एक दिन की भी छुट्टी नहीं ली, रविवार को छोड़ कर। सरकारी छुट्टियाँ अलबत्ता मुझे सब मिली हैं...गरमी की छुट्टियाँ, दिवाली की, दशहरे की, बड़े दिन की, मुहर्रम की, क्रिकेट मैच की। पर मैंने अपने आप एक दिन की भी छुट्टी नहीं माँगी। और आज जब मेरी दो महीने की छुट्टियाँ जमा हैं तो साहब एक हफ़्ते से ज़्यादा की उदारता न दिखा सके। बहाना किया कि अगली पहली से वार्षिक परीक्षा शुरू हो रही है। बड़ी आफ़त है!"

श्यामसुन्दर एक कालिज में क्लर्क है। क्योंकि वह शिक्षा विभाग में है, अन्य महकमों के कर्मचारियों से कहीं ज़्यादा छुट्टियाँ पाता है।

साल भर में मुश्किल से आधे दिन उसे हाज़िरी देनी पड़ती होगी। फिर भी उसे लगता है कि उस पर बड़ी आफ़त है, वह जो चाहता है वह हो नहीं पाता—यह दुनिया बड़ी विचित्र है।

लेकिन श्यामसुन्दर हमारे देश में अकेला नहीं है। उसी की तरह लाखों-करोड़ों लोग हैं, जो अनुभव करते हैं कि उन का जीवन चारों ओर से मुसीबतों से घिरा हुआ है, उन जैसा अभागा कोई नहीं, वे सब आफ़त के मारे हैं।

टिकट-खिड़की पर टिकट मिलने में ज़रा देर हुई कि उन के मुँह से निकला ही समझिए—'बड़ी आफ़त है।' रेल सफ़र में सोने की जगह न मिली तो बड़ी आफ़त है। सिनेमा के टिकिट मिलने में धक्के-मुक्के खाने पड़े तो बड़ी आफ़त है। सब तरफ़ से आफ़त ही आफ़त है। पर ये भी एक बहादुर हैं जो इतनी आफ़तों के बाद भी डटे हुए हैं। और कोई होता तो कब का आत्महत्या कर चुका होता!

मज़ा यह है कि और किसी पर इस प्रकार की आफ़तें गुज़रें तो यह महाशय उसका मज़ाक उड़ायेंगे कि वह ज़रा-सी तकलीफ़ नहीं बरदाश्त कर सकता। अगर देखा जाय तो दरसल ये हैं तो छोटी-मोटी तकलीफ़ें, जो जीवन में आती ही रहती हैं, पर इन्हीं के कारण जीवन में ज़ायका आता है। उन्हें आफ़त समझना उस शब्द का दुरुपयोग है।

पर मनुष्य स्वभाव में एक कमज़ोरी होती है। उसे औरों को यह बताने में बड़ा सुख मिलता है कि वह घोर विपत्ति भोग रहा है, जिसके कारण वह दूसरों की कुछ सहानुभूति पा सके। यह सहानुभूति या दया पाने की क्षुधा प्रत्येक मानव हृदय में सुप्त रूप में किन्तु मज़बूती के साथ छिपी रहती है।

इस कमज़ोरी ने इतना व्यापक रूप ले लिया है कि सारे देश में

बड़ी आफ़त है !

आमतौर पर यही ख़याल है कि हम लोग बड़ी आफ़त में से गुज़र रहे हैं। व्यक्ति से समाज बनता है, समाज से देश। जो भावना व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है, वही तो आगे चल कर राष्ट्र की भावना बन जाती है।

हाँ, हम पर मुसीबतें ज़रूर हैं, और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश ने जो भोगा है वह कम नहीं है। वह तो हमारे देश की अद्भुत अव्यक्त शक्ति है—जिसके बल पर हम इतने संकटों का सामना कर सके। पर और देशों का क्या हाल है ?

भारत अकेला ही तो देश नहीं है जहाँ ये बातें हो रही हैं। जर्मनी का क्या हाल है ? सारे देश का विभाजन कर उसे लगभग ग़ुलामी में जकड़ दिया है—ऐसे देश को जो विश्व विजय की ताक़त रखता था। रोज़ की आवश्यकताओं तक की पूर्ति होना अब वहाँ कठिन हो रहा है। फ्रांस की भी हालत ख़राब है।

इंग्लैण्ड का क्या हाल है, जिसके अधीन हम लोग अभी तक थे। वह तो महायुद्ध में विजयी हुआ है, अमेरिका की उसे काफ़ी मदद रही है, भारतीय साम्राज्य की लूट-खसोट भी वहाँ मौजूद है। फिर भी वहाँ आज क्या स्थिति है ? नागरिकों को खाने-कपड़े का राशन मिलता है, अंडे और मक्खन कूपन से मिलते हैं, कोयला और बिजली पर नियंत्रण है, देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करना है इसलिए सारा अच्छा माल विदेश भेजना पड़ता है, घर में घटिया चीज़ का उपयोग कर तंगी से रहना पड़ता है। जीवन का संघर्ष आज भी अत्यन्त प्रखर है। फिर भी वहाँ इतना अनुशासन और नागरिकता की भावना है कि सारा देश मानो हँसते-हँसते अपनी मुसीबत भोग रहा है। और ख़ास बात यह है कि ये सारी मुसीबतें सात वर्ष के घनघोर युद्ध के बाद, बम वर्षा, नगरों के ध्वंस, युवकों की

सामूहिक मृत्यु के बाद लगातार भोगनी पड़ रही हैं। सारी पीढ़ी की पीढ़ी चक्की में पीसी जा रही है, पर मुँह से अलिफ नहीं। दुनिया के सामने मुँह बा कर घिघियाना नहीं, रोना-पीटना नहीं। इसी को तो राष्ट्रीय चरित्र कहते हैं।

हमारे यहाँ अभी वह बनना बाकी है। सदियों की ग़ुलामी के कारण हमारा तेज और आत्मसम्मान क्षीण हो गया था। लड़ाई के कारण अनैतिकता और भ्रष्टाचार का जोर बढ़ा। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में दरारें पड़ने लगीं। स्वार्थ और भोगलिप्सा की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, चरित्र बल कमज़ोर पड़ गया, आदर्श निष्ठा और सिद्धांत-प्रियता का लोप होने लगा। परिणाम यह हुआ कि विपत्ति या विपरीत परिस्थिति की ज़रा-सी भी आँच बर्दाश्त करने की शक्ति हम में नहीं रही।

ये लक्षण हमारे लिए अच्छे नहीं हैं। ऐसी बात नहीं कि यह हमारा राष्ट्रीय स्वभाव ही बन गया है। अभी हम उस दुर्भाग्य से बचे हुए हैं। पहले ऐसे मौक़े आ चुके हैं जब देश उठा है, स्वार्थों से ऊपर खड़ा हुआ है। सन् तीस और बयालीस के आन्दोलन इसके साक्षी हैं, जब विपदाओं से टक्कर लेकर मरण-त्यौहार मनाने का सबक हमने सीखा था। इसलिए भविष्य में भी हम फिर उठ सकते हैं, ऐसा हमें विश्वास रखना चाहिए।

केवल सरकार या नेताओं को दोष देकर हम चुप नहीं बैठ सकते। उनका दोष है ही नहीं, यह बात नहीं। पर इसके निवारण के लिए हम सब, व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नागरिक ज़िम्मेदार हैं। यदि हम अपना कर्तव्य न करें तो दूसरों को दोष देने का हमें क्या हक़ है?

आफ़त को आफ़त मानना या न मानना हमारे हाथ की बात है। कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जैसे मकान में आग लग जाना या अपने किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु, जो सचमुच हमारे हृदय को भयंकर धक्का देती हैं।

बड़ी आफ़त है !

अधिकांश घटनाएँ हमें थोड़ी-सी असुविधा ज़रूर देती हैं । पर हम उन्हें अतिरंजित दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा कर देख कर उन्हें मुसीबतें मानने लगते हैं । रस्सी को साँप मान कर काँप उठने वाले व्यक्ति हमारे समाज में कम नहीं हैं•।

जेल में मेरे एक साथी थे जिन्हें डेढ़ साल की सजा हुई थी । रोज दिन गिनते थे...कब छूटेंगे, कब छूटेंगे ? छः महीने हुए तब बोले, "अरे बाप रे, अभी तो केवल छः महीने ही हुए हैं ।"

मैंने कहा, "अरे, अब तो डेढ़ साल की जगह एक ही साल बचा है । उसे जाते क्या देर लगती है ?"

कारावास के काले सींकचों में से कोई ज़मीन का कीचड़ या जेल की दीवार का टुकड़ा देखकर दुखी होता है, तो कोई आसमान के तारे देख कर ख़ुश हो लेता है ।

जब मैं बोर्डिंग में था तो अपने कमरे के साथी के साथ आवश्यक चीजें साझे में ख़रीदा करता था । ख़ुशबूदार तेल की बोतल जब आधी रह गयी तो वह बोला—" देखो यार, तेल कितनी जल्दी ख़त्म होता है । बीस दिन में बोतल आधी खाली हो गयी ।"

"अरे वह खाली, कहाँ हो गयी ? अभी तो वह आधी भरी है," मैंने कहा ।

एक ही चीज़ को देखने के दो पहलू होते हैं । यह तो अपनी-अपनी वृत्ति की बात है । निराशावादी हमेशा बुराई ही देखता है, आशावादी हमेशा पहले अच्छी बात देखता है । अंत में होता वही है जो होना होता है । पर इस बीच में निराशावादी चिंता के मारे अधमरा हो जाता है, और आशावादी ख़ुशदिल हो कर इतने दिनों की व्यथा तो बचा ही लेता है ।

इसीलिए तो शेक्सपियर ने कहा है कि कायर आदमी मौत के पहले कई बार मर चुके होते हैं—इसी ख़याल से कि मौत अब आयी, अब आयी। और बहादुर आदमी तो एक ही बार मरता है, जब कि साक्षात् मृत्यु ही उसे घेर लेती है।

पिछली लड़ाई में इंग्लैण्ड में घर-घर में संकट छाया हुआ था। अनिवार्य भरती के कारण कोई भी युवक फ़ौज से नहीं बच सकता था। उस का क़ानून पास होने ही वाला था। सब तरफ़ चिंता के बादल मँडरा रहे थे। पर एक नौजवान बिलकुल बेफ़िक्र हो कर घूम रहा था। उसके दोस्त ने पूछा—"क्या तुम्हें इस क़ानून के कारण फ़िक्र नहीं होती?"

"फ़िक्र? इस में फ़िक्र की क्या बात है? अभी तो कमबख़्ती बहुत दूर है।"

"दूर है, सो कैसे?"

"अरे, क़ानून या तो पास होगा या नहीं होगा। नहीं हुआ तो फ़िक्र की कोई बात नहीं।"

"नहीं कैसे होगा? वह तो ज़रूर होने वाला है।" दोस्त ने कहा।

"अगर हुआ तो या तो मैं फौज में भरती कर लिया जाऊँगा या नहीं किया जाऊँगा। भरती न किया गया तो फ़िक्र की कोई बात नहीं।"

"तुम ज़रूर भरती किये जाओगे—सभी युवक ज़बरदस्ती भरती किए जायँगे। आखिर क़ानून पास करने का मतलब?"

"मान लिया, भरती किया गया तो या तो मैं मोरचे पर भेजा जाऊँगा या नहीं भेजा जाऊँगा। नहीं भेजा गया तो फ़िक्र की कोई बात नहीं।"

"और भेजे गये तो?"

"भेजा गया तो या मैं मारा जाऊँगा या नहीं मारा जाऊँगा। वह तो किस्मत की बात है। नहीं मरा तो फिर फ़िक्र की कोई बात नहीं।"

"और मर गये तो ?"

"मर गया तो मर जाऊँगा—फिर फ़िक्र करने का कोई सवाल ही नहीं उठता।"

वह अपने दोस्त की फ़िलसफ़ी देख कर दंग रह गया। नतीजा यह हुआ की रंगरूट अफ़सर का इंतज़ार किये बिना वह स्वयं भरती दफ़्तर में जाकर अपना नाम लिखा आया।

हम यदि क्षणिक आवेग को महत्व न देकर ज़रा गंभीरता से सोचें तो इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि जिसे हम व्यथा और विपदा कहते हैं, वह यथार्थ में शत्रु नहीं, मित्र है।

ऐसी ज़िन्दगी जिस में कोई चढ़ाव-उतार नहीं, कोई दुख नहीं, बिलकुल नीरस और फीकी होती है। जीवन के युद्ध में चोटें और आघात बर्दाश्त करने से ही उस में विजय प्राप्त होती है, उस में लुत्फ़ आता है।

दुनिया के जितने बड़े आदमी हुए हैं—धनिक हों, राजनीतिज्ञ हों, कलाकार हों—कठोर अनुभव और विपदाओं से गुज़रे बिना उन की उन्नति नहीं हुई है। शिल्पकार की हथौड़ी के प्रहार खाये बिना देवता की मूर्त्ति बनती ही नहीं।

अंग्रेज़ कवि शैली ने कहा है कि हमारे सब से मीठे गीत वही होते हैं जो हमारी व्यथा को व्यक्त करते हैं। वही कवि अन्यत्र कहता है कि अन्याय और प्रताड़ना भोगने के कारण साधारण से साधारण व्यक्ति भी गायक हो जाता है और अपने गीतों में वह उन्हीं बातों को सिखाता है जो उसने अपने स्वयं के दुखभोग में सीखी हैं।

"इसलिए वेदना या दुख से घबराने का कोई कारण नहीं है। जो धूप में चलते हैं वे ही जानते हैं कि झाड़ की शीतल छाया में कितना आह्लाद और उल्लास है। खस की टट्टियों के भीतर बैठने वाले इसे क्या जानें ?

एक कहावत है कि "मरे बिना स्वर्ग नहीं दिखता।" हमारे समाज में मरणोत्तर जीवन की कल्पना है। जो इस जीवन में अच्छा कार्य करता है उसे सुंदर, सुखकर, देवों का स्वर्ग मिलता है, जो बुरा काम करता है उसे साँप-बिच्छुओं से भरा हुआ राक्षसों का नरक मिलता है, यह विश्वास है।

नरक जिसे मिलता हो मिले, पर स्वर्ग पाना आसान नहीं, इतना तो मानना ही होगा, क्योंकि उसके पहले मरना होता है। इसी का तो मानव को सब से ज़्यादा डर लगता है। मृत्यु भयंकर है, अप्रिय है, यही तो सब का ख़याल है।

किसी शायर ने ठीक ही कहा है:

गिरा जो दाना ज़मीं पर, निहाल हुआ,
हयात बाद हुई, पहले इंतकाल हुआ।

अर्थात् अन्न के बीज को तो पहले अपनी क़ब्र बना कर ज़मीन में गड़ जाना होता है—उसके बाद फ़सल होती है और उसका कई गुना परिमाण में पुनर्जन्म होता है। यही आत्मत्याग पुनर्निमाण की भित्ति है। फ्रांस का आदर्शवादी लेखक, विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार विजेता रोम्यां रोलाँ अपने उपन्यास के अमर पात्र क्रिस्तफ़ से कहता है—"जीवन तो मृत्यु और पुनर्जन्म की परम्परा की कहानी है। हमें पुनर्जन्म पाने के लिए क्रिस्तफ़, पहले मरना होगा।"

अतएव आफ़तों और अत्याचारों से घबराने का कोई कारण नहीं।

बड़े-बड़े ऋषियों का अनुभव तो यही बताता है कि व्यथा और वेदना की पाठशाला में जो सबक सीखे जाते हैं, वे पुस्तकों तथा मानव-निर्मित विश्वविद्यालयों में नहीं मिलते।

अंग्रेज कवि मिल्टन का ही उदाहरण ले लीजिए। उस का सब से प्रसिद्ध अमर काव्य 'पैरेडाइज़ लास्ट' तो उसी समय लिखा गया जब वह पूरा अंधा हो गया था। बाहर का प्रकाश बंद हुआ तो अन्तर्ज्योति का स्निग्ध आलोक जगमगाने लगा। दांते ने अपने सारे महाकाव्य दारिद्रय और देशनिर्वासन के काल में लिखे। जर्मन संगीतज्ञ बेटोफ़न ने अपनी श्रेष्ठतम संगीत कृतियाँ उस समय निर्माण की, जब वह बहरा हो गया था।

ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आपत्तियाँ बुरी नहीं हैं— हम अपने अज्ञान या आरामतलब स्वभाव के कारण भले ही उन्हें उस दृष्टि से देखें या उन से घबरा जायँ। पर जब वे निकल जाती हैं—और जाती वे ज़रूर हैं—तब हम ख़ुद अनुभव करते हैं कि उन्होंने हमें बहुत कुछ सिखाया है। इतना ही नहीं बल्कि उन अनुभवों को नमक-मिर्च लगा कर अपने दोस्तों को सुनाने में हमें विशेष मज़ा आता है।

एक युरोपियन संगीत विशेषज्ञ की मज़ेदार कहानी बतायी जाती है। उसके पास संगीत सीखने के लिए एक युवती आती थी। उसने संगीत का शास्त्रीय ज्ञान तो काफ़ी प्राप्त कर लिया था, पर उसकी कला में आत्मा नहीं थी—उस में भावों का आवेग नहीं था। उस संगीतज्ञ ने इस पर राय दी, "यह सुन्दरी सचमुच अच्छा गाती है, पर इस में एक दोष है, और वही दोष सब कुछ है। यदि मैं अविवाहित होता तो इसके साथ प्रेम करता, विवाह करता, फिर इस के साथ दुर्व्यवहार करता और उसका हृदय टूटने देता। इसके बाद छः महीने के भीतर ही आप देखते कि वह यूरोप की सब से श्रेष्ठ गायिका बन गयी है।"

तीसरी भूख

इस कहानी में केवल विनोद ही नहीं है, एक बड़ा तत्व है। कला और व्यथा का अनिवार्य सम्बंध है। कलाओं में सबसे श्रेष्ठ है—जीवन-कला। उस में सिद्धि पाने के लिए मुसीबतो से घबराने की कोई ज़रूरत नहीं बल्कि उनका तो हमें स्वागत करना चाहिए। जिन्होंने जीवन में कुछ कर दिखाया है, उनके मुँह से आप सहसा यह कभी न सुनेंगे कि बड़ी आफ़त है। ये शब्द अक्सर उन्हीं के मुँह से निकलते हैं, जिन पर सचमुच आफ़त नहीं आती है, लेकिन जिन्हें आफ़त का आभास मात्र होता है।

तार की कसरत

जब हम सर्कस देखने जाते हैं तब अक्सर हमें तार की कसरत का खेल देखने को मिलता है। एक पतले तार पर युवती स्त्री छाते के ज़रिए कई तरह के कौशल दिखलाती है, कभी नाचती है, कभी पैर के अँगूठे के बल पर खड़ी रहती है तो कभी दौड़ती है। जब वह कोई खेल सफलतापूर्वक कर लेती है तो हम ताली पीट कर उसकी वाहवाही करते हैं। लेकिन अगर उसका तौल ज़रा भी बिगड़ गया तो ? तो फिर वाहवाही तो दूर रही, वह बेचारी धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ेगी और सिर फोड़ लेगी या मुमकिन है जान से भी हाथ धो लेगी। ऐसी दुर्घटना बचाने के लिए कई सर्कस वाले लोग नीचे एक जाली ताने खड़े रहते हैं, ताकि वह गिरे तो उसी में गिरे। इस खेल की तारीफ़ उस लड़की के तौल में है। तौल बिगड़ा कि मामला ख़त्म।

यही बात जीवन में भी सही है। हमारे जीवन में विविध शक्तियों का असर पड़ता है। जैसे भावना, तर्क, शरीर-बल, आत्म-बल, प्रेम, द्वेष

इत्यादि। अक्सर ये शक्तियाँ विरुद्ध दिशा में खींचती हैं। जो इन शक्तियों का उचित समन्वय कर सकता है उसे हम सफल मानते हैं। जो यह नहीं कर पाता, वह ज़िन्दगी में नाकाम तो होता ही है, कई तरह की मुसीबतें भी उठाता है। जब कोई पागल हो जाता है तो हम कहते हैं—इसके दिमाग़ का 'स्क्रू' ढीला हो गया है या दिमाग़ का तौल बिगड़ गया है। साइकिल की सवारी करते-करते कोई दुर्घटना हो जाय तो हम कह उठते हैं—भाई, मेरी साइकिल का बैलेन्स बिगड़ गया इसलिए मैं गिर पड़ा। यही बैलेन्स या संतुलन ही जीवन की सफलता की सबसे आवश्यक शर्त है।

तार की कसरत का उदाहरण देने से मन में यह ख़याल पैदा हो सकता है कि जीवन में तौल प्राप्त करना दरअसल मुश्किल काम है। वह तो सर्कस की उस युवती की तरह लम्बी कोशिश और अभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है और फिर भी वह सबके बूते की बात नहीं है। तब तो बड़ी कठिन बात है। सर्व-साधारण को यह प्राप्त कैसे हो सकती है ?

हाँ, सच बात कहना है तो यही कहना होगा कि यथार्थ में यह तौल हासिल करना आसान नहीं है। उसके लिए सतत् प्रयत्न करने की ज़रूरत है। बग़ैर साधना के यह चीज़ नहीं मिल सकती। लेकिन जब मिलती है तब दुनिया पुकार उठती है—बस, आदमी है तो यही है, इसी का आदर्श आने वाली पीढ़ियाँ मानेंगी। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गांधी इसी प्रकार के महापुरुष हैं, जिन्होंने अपने जीवन का तौल अधिक-से-अधिक मात्रा में स्थिर किया है।

जो इतना ऊँचा नहीं उठ सकते, उन लोगों के लिए निराश होने का कारण नहीं है। हम जैसे साधारण लोगों की तसल्ली के लिए यह सत्य जान लेना आवश्यक है कि इस तौल को प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्न करेंगे, उसी परिमाण में हमें सफलता मिलेगी। भले ही हमें सोलह-आने

कामयाबी न मिले, आठ आना, छः आना तो मिल सकती है। दो आने भी मिले, तब भी हमारी कोशिश फ़िजूल नहीं गयी। इसमें परीदेश के हंस जैसी बात नहीं है कि वह चुनेगा तो मोती चुनेगा, नहीं तो भूखा रहेगा। जो जितनी कोशिश कर सके, उसे उतनी ही सफलता मिलेगी, उतना ही जीवन का आनन्द मिलेगा। इसीलिए इस तौल—समन्वय—की प्राप्ति के लिए यत्नशील होना प्रत्येक व्यक्ति के लिए वांछनीय है।

इतिहास और साहित्य में ऐसे महारथियों के चित्र अंकित किये गये हैं, जिन्होंने विश्व-विजय की दुर्दम्य महत्वाकांक्षा रखी थी। किन्तु इस तरह के सार्वभौमत्व की कल्पना मानव जाति के धर्म या प्रकृति के नियमों से मेल नहीं खाती है और इसलिए वह सर्वतः एकांगी हो जाती है। एकांगी होने का अर्थ ही यह है कि उसका संतुलन बिगड़ गया है। उसका परिणाम अवश्यम्भावी पराजय ही है। ऊपरी तौर पर जो फतह दिखायी देती है, उसी में अन्दर से शिकस्त की घुन लग जाती है, जिसका नतीजा होता है—जितनी बड़ी महात्वाकांक्षा उतना ही भयंकर सर्वनाश।

बादशाह सिकन्दर का यही स्वप्न था लेकिन जिस पंजाब की भूमि पर उसने महाराजा पुरु को पराजित किया, उसी भूमि पर उसकी सेना में बलवे का झण्डा खड़ा किया गया और सिकन्दर को वापस लौटना पड़ा। उसी दिन से सिकन्दर का सूरज डूबने लगा। रोम के सम्राट ज्यूलियस-सीज़र की महत्वाकांक्षा भी असीम थी, किन्तु वह अपने ही विश्वस्त मंत्रियों द्वारा दिन-दहाड़े मार डाला गया। नेपोलियन ने भी इसी प्रकार विश्व-विजय के स्वप्न देखे थे, लेकिन उसे मास्को से जीर्ण और जर्जरित होकर लौटना पड़ा, जिसका पर्यवसान सेंट हेलिना के बन्दिवास में हुआ। ये सब उदाहरण यही बतलाते हैं कि जब महत्वाकांक्षा एक सीमा के परे चली जाती है तो औचित्य से उसका समन्वय नष्ट हो जाता है, और उसका परिणाम विनाश में होता है।

शेक्सपियर ने कुछ सुन्दर दु:खान्त नाटक (ट्रेजेडी) लिखे हैं। उनमें भी मूल-तत्व यही है कि जीवन में ट्रेजेडी (भयंकर दुर्घटना) होती है, उसका कारण है, जीवन का संतुलन टूट जाना। हेमलेट की असीम वेदना और असफलता का कारण है—उसके आचार और विचार के समन्वय का अभाव। जब वारा-न्यारा करने की सुवर्ण सन्धि आती है तब वह तलवार चलाने के बजाय सिर खुजलाते हुए सोचता रहता है—"To be or not to be, that is the question." ऑथेलो की दुर्घटना का कारण है—आत्यन्तिक शक। ऑथेलो ने एक बार अपनी पत्नी डेसडेमोना के चरित्र पर सन्देह करना शुरू किया, तो वह इतनी दूर तक चला गया कि उचित-अनुचित की सीमाएँ लाँघ गया। किसी भी भावना की आत्यन्तिकता (Extreme) का ही अर्थ है—समन्वय का अभाव। और उसी का परिणाम है दु:ख, वेदना। इसी प्रकार 'मैकबेथ' और 'किंगलिअर' तथा गेटे के 'डा० फास्टस' की ट्रेजेडियों की कारण-मीमांसा की जा सकती है।

क्या साहित्य में, क्या इतिहास में, क्या जीवन में, वही चरम सिद्धान्त सत्य है कि विभिन्न शक्तियों के समन्वय में सुख और सफलता तथा उसके अभाव में क्लेश और असफलता समायी हुई है।

इन बड़े-बड़े विश्व-नायकों को छोड़ दें और हम अपने ही रोज़मर्रा के साधारण जीवन की ओर नज़र डालें तो यही सत्य हमें दिखलायी पड़ता है। संसार को बहुरंगे चित्रों की प्रदर्शिनी की उपमा दी जाती है, क्योंकि उसमें इतनी भाँति के लोग मिलेंगे कि कोई भी दो आदमी समान नहीं होते। जितने व्यक्ति उतनी ही प्रकृत्ति। कुछ लोग तो अत्यन्त भावनाशील होंगे। उनका हृदय ही उनका राजा है। दूसरे नितान्त तर्कशील मिलेंगे, जिनकी नियंत्रक शक्ति है—दिमाग़। पहली श्रेणी के लोग भावना के आवेग में ख़ून जैसे भयंकर कृत्य भी कर डालेंगे, दूसरे अपने पिता की

मृत्यु के समय रुपये, आने, पाई का हिसाब करते दिखायी देंगे। ये दोनों ही अंतिम स्थितियाँ ग़लत हैं। हमें भावना की ज़रूरत है और विचार की भी। भावनाओं को विचारों से सलाह ले लेनी चाहिए और विचारों को भावनाओं का आदर करना चाहिए। तभी मानव जीवन श्रेयस्कर और सफल हो सकेगा।

यही बात ज्ञान और कर्म के बारे में भी सच है। कुछ लोग तो अध्ययन और पण्डिताई में उलझ कर इस तरह के पुस्तक-कीट हो जाते हैं कि ज़िन्दगी के बड़े से बड़े सवालों को यूक्लिड के सिद्धान्तों के मुताबिक सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। किसी भी शिक्षा या सिद्धान्त के तत्व में व्यवहार का जोड़ मिलाने के लिए वे तैयार नहीं। जो किताब में लिखा होगा या जो गुरुजी बतलायेंगे वही सच है, बाकी सब—? प्रश्नचिन्ह!

स्वामी रामकृष्ण के शिष्य की एक मनोरंजक घटना है। स्वामी जी ने एक दिन अपने प्रवचन में कहा—'सब प्राणियों में ईश्वर विद्यमान है, हमें उसका आदर करना चाहिए।' बस एक शिष्य महोदय बाहर निकले तो सब प्राणियों को—गधे, बैल, कुत्ते को भगवान समझकर नमस्कार करने लगे। इतने में एक हाथी जो पागल हो गया था, चिंघाड़ता हुआ आया। उसका महावत हाथी पर ही बैठा-बैठा उसे क़ाबू में लाने की कोशिश कर रहा था। लेकिन उसे सफलता नहीं मिल रही थी। इसलिए वह चिल्ला-चिल्ला कर लोगों को आगाह कर रहा था—'बचो, बचो! भागो, भागो! हाथी पागल है।' लेकिन हमारे शिष्य महाशय क्यों भागने लगे? वे हाथ जोड़ कर और नतमस्तक होकर हाथी देव के सामने खड़े हो गये, पर देवता ने उनकी पूजा की कोई परवाह नहीं की, ऐसी सूँड फटकारी कि वे कई हाथ दूर जा गिरे और ख़ून से लथपथ हो गये। जब स्वामी रामकृष्ण ने पूछा, "तुम भागे क्यों नहीं?" तो जवाब मिला, "हाथी में तो ईश्वर है न? मैं उस ईश्वर के सामने से कैसे भाग

सकता था ?" स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा, "पागल हाथी में जो ईश्वर था उसकी बात तो मान ली, लेकिन उस महावत में बसा ईश्वर जो तुम्हें आगाह कर रहा था, उसकी बात क्यों नहीं मानी ?"

ऐसे ही पुस्तक-कीटों की जो श्रेणी पैदा हुई है उसे 'पठन-मूर्ख' कहते हैं। किताबें तो सब पढ़ ली हैं, फिर भी कोरे के कोरे बने हुए हैं। विचार सब दिमाग़ में हैं लेकिन उसमें इस क़दर पक्का ताला लगा हुआ है कि कहीं ग़लती से भी कोई विचार प्रत्यक्ष जीवन और व्यवहार में काम न आ जाय !

जो कोई हर वक्त गहन विचार में लीन रहता है उसे मज़ाक में लोग फ़िलासफ़र कहने लगते हैं। मतलब यह कि वह अपनी ही ख़यालो दुनिया में इस तरह मशगूल रहता है कि उसे बाहरी दुनिया की कोई ख़बर नहीं रहती। और जो जितना ज़्यादा बेख़बर रहता है उसे उतना ही बड़ा चिन्तक मानने का कुछ रिवाज़-सा हो गया है। जिनके बारे में इस तरह का ख़याल होता है, वे इसे नाज़ की चीज़ मानते हैं। लेकिन विश्व का आद्यचिन्तक अफ़लातून (प्लेटो) ऐसा नहीं मानता। उसकी यही राय है कि जो जितना बड़ा चिन्तक (फ़िलासफ़र) है, उसे उतना ही अधिक व्यवहार-कुशल भी होना चाहिए, यानी चिन्तन और व्यवहार का समन्यव होना चाहिए। इसी विचार प्रणाली के कारण उसने दार्शनिक ही शासक हो (Philospher as king) की कल्पना ईज़ाद की थी। किन्तु आजकल तो फ़िलसूफ़ की कल्पना इससे बिलकुल विपरीत है। फ़िलासफ़ी के प्रोफ़ेसरों के बारे में इसीलिए कई मज़ाक चल गये हैं। ऐसे ही एक प्रोफ़ेसर साहब की बात है। वे शाम को अकेले घूमने गये, अकेले न जायँ तो फ़िलसूफ़ कैसे ? लौटे तो अपने विचारों में इतने मशगूल थे कि हाथ की छड़ी तो उन्होंने बिस्तर पर लिटा दी और ऊपर से कम्बल ओढ़ा दिया और ख़ुद कोने में जाकर चुपचाप खड़े रहे—उस मुक़ाम पर

जहाँ उनकी छड़ी रहती थी। इसी तरह अपनी तन्द्रा में न जानें कितनी देर खड़े रहे, लेकिन जब दीवार से सर टकराया तब उन्हें होश हुआ और अपनी हालत देखकर बड़े शर्मिन्दा हुए। तब जाकर उन्होंने छड़ी को कोने में टिकाया और खुद बिस्तर पर जाकर सोये। ऐसे दृश्य आपको कम नहीं दिखायी देंगे।

लेकिन इसके विपरीत आपको ऐसे आदमी मिलेंगे जो सिवा व्यवहार-कुशलता के और किसी बात का दावा नहीं करते। इसी स्वभाव की अंतिम हालत खुदग़र्ज़ी, नीचता और औचित्य-अनौचित्य का एकदम अभाव है। ऐसे पिता के बारे में क्या कहा जाय जो अपनी पन्द्रह वर्ष की कुँआरी कन्या को ४६ वर्ष के बूढ़े के साथ—जिसकी यह तीसरी शादी है—ब्याह देता है, क्योंकि इस सौदे में उन्हें ढाई हज़ार रुपये मिलते हैं। यह काल्पनिक नहीं, सच्ची घटना है और ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं। तारीफ़ यह कि उन पिता महोदय की हालत इतनी बुरी नहीं है कि रुपये के लिए इतना नीचा काम करना पड़े। पुलिस इन्सपेक्टरी से पेंशनयाफ़्ता हैं, पेंशन भी पा रहे हैं और बैंक में कुछ रक़म भी है। फिर भी उन्हें अपनी एकमात्र कन्या की भावनाओं का ख़याल नहीं। जाते वक्त वे अपनी लड़की को पति को देव मानने की हिदायत देने में नहीं चूके। खुद तो पितृधर्म का गला काट चुके, लेकिन पुत्री को पतिव्रत धर्म पालन का उपदेश देते हैं। उनसे पूछा तो कहने लगे कि दुनिया में 'सैंटिमेण्टल' (भावनाशील) होने से काम नहीं चलता। व्यवहार में तो ऐसा करना ही पड़ता है। मैंने कोई नयी बात तो की नहीं। लड़की चार-छः दिन रोयेगी, लेकिन बाद में वह अपने पति के प्रति श्रद्धा करने लगेगी। हिन्दू स्त्री का तो यही धर्म है।

इस प्रकार के अतिरेक के उदाहरण कई मिलते हैं। ज़ाहिर है कि ऐसे एकांगी व्यक्तियों का जीवन दुखदायी और असफल हो जाता है, तथा

वे अपने आत्मीयों तथा मित्रों के कष्टों के लिए भी कारणीभूत होते हैं। दोनों ही अतिरेक त्याज्य हैं—ग़लत हैं। हमें सुवर्ण-मध्य ही खोज कर निकालना होगा। उसके बिना ज़िन्दगी सफल नहीं हो सकती। ध्येय और व्यवहार, ज्ञान और कर्म, भावना और तर्क इत्यादि सब द्वन्द्वों का उचित समन्वय करना होगा। संत विनोबा ने ध्येय और व्यवहार की व्याख्या एक छोटे से समीकरण द्वारा बड़ी सुन्दर रीति से की है। वे कहते हैं— "अन्तिम ध्येयवाद—पुरुषार्थ-हीनता, अन्तिम व्यवहारवाद—हीन-पुरुषार्थ, इन दोनों खाइयों के बीच में से हमें जाने की ज़रूरत है। नहीं तो हम औंधे गिर पड़ेंगे।"

लोकमान्य तिलक का कथन है कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म की जोड़ी न टूटे। आजतक बुद्धिमानी और कर्मण्यता का मेल ही नहीं था। एक का मुँह पूर्व की ओर था तो दूसरे का पश्चिम की ओर। इसीलिए स्वराज्य के दर्शन नहीं हुए। जो बात स्वराज्य के लिए सही है, वही तमाम जीवन के लिए भी ठीक है।

इसलिए हमें यदि अपनी उन्नति या उद्धार करना है तो ज्ञान और कर्म का, वृद्धों के अनुभव और युवकों के उत्साह का, स्त्रियों की बुद्धिमानी और पुरुषों की सृजन शक्ति का, ब्राह्मणों के शास्त्र और अ-ब्राह्मणों की कला का, हिन्दुओं की नीति और मुसलमानों की शक्ति का, भिक्षुओं के धर्म और गृहस्थों के कर्म का समुच्चय करना होगा। यही समन्वय या तौल सफलता की कुंजी है। यह है तो तार की कसरत जैसा कठिन, लेकिन उसके फल भी उतने ही मीठे होते हैं।

जीवन की किताब

जब १६३१ में गान्धी जी गोलमेज परिषद् में शरीक़ होने के लिए लन्दन गये थे, तब उनके साथ उनकी यूरूपियन शिष्या और अनन्य सेविका मीराबेन भी थीं। मीराबेन अंग्रेज़ एडमिरल स्लेड की कन्या हैं और चूँकि उनका मित्र परिवार इंगलैण्ड में काफ़ी बड़ा है, उनसे मिलने के लिए और विशेषतः उनका यह सन्यस्त जीवन देखने के लिए कई पुराने मित्र आये। एक ने उनसे उनकी दिनचर्या पूछी, सो उन्होंने सुबह चार बजे उठने से लेकर रात को ग्यारह बजे सोने तक, सब कार्यक्रम बतला दिया, जिसमें गान्धी जी के नाश्ते का प्रबन्ध, उनके कपड़े धोना, चरखा कातना इत्यादि-इत्यादि सब बातें आ गयीं, लेकिन उसमें किताबों के पढ़ने के लिए कोई समय नहीं था। उस मित्र ने आश्चर्य चकित होकर पूछा— "यह सब तो ठीक है, लेकिन आप पुस्तकें पढ़ने के लिए वक्त नहीं निकालतीं ?" मीराबेन ने तुरन्त जवाब दिया—"मैं तो गान्धी जी के साथ प्रत्यक्ष जीवन की किताब पढ़ने में ही इतनी व्यस्त हूँ कि छपी

हुई किताबों के लिए मेरे पास वक्त नहीं है। और न मुझे इसका रंज ही है।"

हो सकता है कि मीराबेन का यह कथन एक सिरे पर हो, लेकिन उन्होंने जिस अमूल्य सत्य की ओर निर्देश किया है, उसकी दाद देनी ही होगी। केवल इतना ही नहीं, जीवन के सजीव ग्रन्थ को पढ़ने में यदि छपी हुई पुस्तकों के पठन में लापरवाही हो जाय या किसी कारण से वे न पढ़ी जा सकें तो कोई हर्ज नहीं, उससे कोई नुक़सान नहीं होगा। मनुष्य, मनुष्य ही बना रहेगा। लेकिन इसके विपरीत जो लोग साक्षात जीवन से विमुख होकर केवल पुस्तकों के अध्ययन में ही उलझ जाते हैं, वे मनुष्य नहीं रह जाते। मनुष्य की मानवता से उनका सम्बन्ध नहीं रह पाता और वे निष्क्रिय दिमाग़ी कसरत के फेर में पड़कर वास्तविक जीवन में एकदम असफल हो जाते हैं। पाणिनि और पातंजलि के ग्रन्थ पढ़-पढ़ कर प्रकाण्ड पंडित भले ही हो गये हों किन्तु लोक व्यवहार, समाज-सेवा और जीवन्त कार्यक्षम जीवन से वे बिलकुल कोरे रहते हैं।

पश्चिम के प्रभाव से जो शिक्षा पद्धति हमारे देश में ईज़ाद की गयी है, उसके खिलाफ़ इतना ज़बरदस्त जो लोकमत है, उसका कारण भी तो यही है। ग्रेजुएट हो जाने के बाद हम शेक्सपियर और मिल्टन के काव्यों की तो दाद देने लगते हैं, और उनके बारे में इतनी तफ़सीलवार जानकारी रखते हैं कि शेक्सपियर की पत्नी उससे उम्र में कितनी बड़ी थी और मिल्टन किस सन् में अन्धा हुआ था। लेकिन हम यह नहीं जानते कि हमारे देश के बहुसंख्यक लोग, जिन्होंने शेक्सपियर और मिल्टन तो नहीं पढ़ा है, लेकिन जो ग़रीबी, ग़ुलामी और बुभुक्षा से पीड़ित हैं, उनके जीवन के साथ हम कैसे समास हो सकते हैं, और उनकी तकलीफ़ रफ़ा करने में कुछ मदद कर सकते हैं या नहीं। ग्रेट ब्रिटेन का इतिहास, ट्यूडर वंश की एक-एक बात तो हमें मुखाग्र होती है, लेकिन महाद्वीप जैसा यह पुरना

भारत देश मुट्ठी भर अंग्रेज़ों के इतने छोटे से द्वीप का ग़ुलाम क्यों और कैसे बना, यह हम नहीं जानते। वाणिज्य और व्यवसाय, मैनचेस्टर और लंकाशायर, मिल और जहाज़ इन सब की कहानी तो हमें पूरी तरह मालूम है लेकिन इज़्ज़त के साथ दो शाम भोजन की प्राप्ति कर शान्ति की जिन्दगी बिताना हमारे लिए मुश्किल है। इस भयंकर दुर्घटना का कारण यही है कि हमारी शिक्षा का जीवन से कोई ताल्लुक नहीं है। हमारे शासकों ने जान-बूझकर यह नीति अख़्तियार की थी ताकि हमारे देश में पढ़े-लिखे किन्तु निकम्मे, स्वाभिमानहीन, और परावलम्बी लोगों की जाति बनी रहे और देश का शोषण चलता रहे।

यही कारण था कि लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी इस जीवन द्रोही शिक्षा प्रणाली के इतने ख़िलाफ़ थे। लोकमान्य तिलक स्वयं एक उच्चकोटि के चिन्तक और शास्त्रज्ञ रहे हैं। उनके 'गीता रहस्य' और 'आर्कटिक होम आफ द वेदाज़' अमर ग्रन्थ हैं, किन्तु वे भी कोरे पाण्डित्य के विरोधी रहे हैं। उनके बारे में एक घटना बताते हैं कि काशी के एक विद्वान ने उनसे बड़े अभिमानपूर्वक जगन्नाथ पण्डित के महाकाव्य 'गंगालहरी' का ज़िक्र करते हुए कहा कि जैसे-जैसे जगन्नाथ पण्डित एक-एक श्लोक कहते जाते वैसे-वैसे गंगा जी का जल, उनकी वाणी और प्रतिभा के प्रसाद से एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ता जाता था। यह सुनकर लोकमान्य ने कहा, 'मुझे जगन्नाथ पण्डित के लिए अधिक आदर होता यदि उनके काव्य के प्रत्येक श्लोक से इस अभागे देश के प्रत्येक युवक हृदय में मातृभूमि के प्रति मर-मिटने की प्रेरणा उत्पन्न होती। लोकमान्य तिलक के जीवन-निष्ठ दृष्टिकोण का परिचय इस घटना से कैसा अच्छा मिलता है?

और पुस्तकें हैं भी क्या! वे सब जीवन की प्रतिबिम्ब हैं, जीवन से

प्रेरणा पाती हैं और जीवन ही को समझने में सहायक होती हैं। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। जो पुस्तकें जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, उन्हें हम ऊँचे दर्जे की कला-कृति मानते हैं और जो जीवन विमुख होती हैं, उन्हें हम ग़लत और झूठा समझ कर फेंक देते हैं। यही कारण है जो हमें परीदेश की कहानी 'स्वप्न सुन्दरी' या शेक्सपियर की 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' जैसी रचनाएँ नहीं भातीं। हाँ, अपरिपक्व उम्र में एक समय ऐसा होता है जब इन कहानियों से दिलचस्पी रहती है, लेकिन वह समय बीत जाने के बाद हम इन पुस्तकों को असत्य और अयथार्थ मानकर फेंक देते हैं। वे जीवन की पुस्तिकाएँ नहीं हैं।

यह जीवन की किताब क्या है? कहाँ है, कैसे पढ़ी जाती है? ऐसे सवाल उठते हैं। जीवन की पुस्तिका की परिभाषा तो क्या की जाय, उसका निर्देश अवश्य किया जा सकता है। सत्य क्या है या ईश्वर क्या है, इन प्रश्नों का निश्चित उत्तर देना कठिन है, जैसे गांधी जी कहते हैं—सत्य की या ईश्वर की झाँकी तो अवश्य देखी जा सकती है। वही बात जीवन के बारे में है। यहाँ जीवन का निर्देश व्यक्तिगत और संकुचित अर्थ से नहीं है, व्यापक अर्थ से है अर्थात् समाज-जीवन, विश्व-जीवन से है। ऐसे जीवन की किताब हर जगह खुली पड़ी है। जिधर नज़र उठाकर देखो, उधर उसके शब्द और संकेत, उनके अर्थ और संदेश, नज़र आयेंगे। काव्य की भाषा में कहें तो यह वह किताब है जिसका एक वर्क़ ज़मीन है और दूसरा आसमान है, जिसमें चाँद और सूरज नदी-पहाड़ और दरख़्त, इन्सान और परिन्दे हरूफ़ हैं और जिसकी बुनियाद सत्य है—शाश्वत, सनातन सत्य! इसे पढ़ने के लिए अ—आ—इ—ई या अलिफ़-बे—पे जानना ज़रूरी नहीं है। लेकिन हाँ, एक ख़ास दृष्टिकोण की ज़रूरत होती है, जिसका मूल केन्द्र, शक्तिदाता तथा प्रेरणात्मक बिन्दु हृदय है। इस कथन को जरा साफ़ करने की आवश्यकता है।

जीवन की किताब

यह जो विशाल विश्व है, यह प्रकृति, यह व्योम मंडल, यह अथाह जलराशि, यह पृथ्वी; यह कोई अनियन्त्रित बेमतलब की चीज़ें नहीं हैं। हम बारीकी से देखें तो इनके पीछे एक क़ानून है, एक मक़सद है, अर्थ है। और अगर हम उस अर्थ को समझने का माद्दा रखें तो उससे बहुत लाभ भी उठा सकते हैं। इस क़ानून, इस आदि-शक्ति को, जो विश्व के इस महान व्यापार को चलाती है, आप कुछ भी नाम दें—ब्रह्म, ईश्वर या प्रकृति। लेकिन वह एक ताक़त है जो किसी ख़ास नियम के मुताबिक काम करती है। मानव यदि उस नियम को पढ़ सके, समझ सके, तो उसकी प्रगति के लिए ख़ूब गुंजाइश है। जो ऐसा करते हैं, वे जीवन में सफल माने जाते हैं, जो ऐसा नहीं कर पाते उनके लिए दुःख और निराशा का प्याला रखा हुआ है। भले ही वे अपनी किस्मत या ईश्वर या और किसी बाहरी शक्ति को दोष दें, लेकिन सच यही है कि उन्होंने जीवन की इस विशाल किताब को पढ़ना-समझना नहीं सीखा है। आमतौर पर यही बात सही है कि हमारी असफलताओं और तकलीफ़ों के लिए ज़्यादातर हमीं ज़िम्मेदार हैं।

इसे ज़रा और बारीकी से देखें। पूर्णिमा की चाँदनी ही लीजिए। कवि या साहित्यिक के लिए तो वह अनुपम सौन्दर्य की खान है, लेकिन चोर को उससे सख़्त शिकायत है क्योंकि उसके कारण वह अपना पेशा नहीं चला सकता। और इस लड़ाई के ज़माने में तो बमबाज़ उसका इसलिए स्वागत करते हैं कि वे दुश्मन के क्षेत्रों पर अचूक हमला कर सकें। कोई भी वस्तु मूल में अच्छी या बुरी नहीं है। वह तो हमारी दृष्टि ही है, जो हमें किसी विशिष्ट रूप में उसे दिखाती है।

जिनको पीलिया हो गया, उन्हें हर चीज़ पीली दीखती है। जिन्होंने धूप का हरा चश्मा लगाया है उन्हें आसमान और सफ़ेद कपड़े भी हरे

दीखते हैं। इसी तरह जो जीवन को निराशावादी नुक्तेनज़र से देखते हैं, उन्हें हर जगह, हर दिशा में दुःख और वेदना ही नज़र आती है। वे हर सवाल का बुरा पहलू ही देखते हैं। दिन के प्रकाश की जगह उन्हें रात का अंधकार ही दीखता है, गुलाब के फूल की बजाय उसका काँटा ही उन्हें दीखता है, पर्वतमालाओं के अप्रतिम सौन्दर्य की जगह उन्हें पत्थर और झाँखर ही दीखते हैं। और फिर वे ही मुहर्रमी सूरत बनाकर कहने लगते हैं कि संसार असार है, जीवन महान दुखभोग है। किन्तु ऐसा होता तो इतनी विपत्ति और संकट के कारण आत्महत्या करना साधारण नियम हो जाता। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जीवित रहने की इच्छा बड़ी प्रबल होती है।

यदि हम गम्भीरता से सोचें तो हम पायेंगे कि विश्व की गति ऊपर की ओर है, नीचे की ओर नहीं। जीवन प्रगतिशील है, प्रतिगामी नहीं। हजारों वर्षों का मानव इतिहास यही बतलाता है कि पाषाण युग से लेकर तो आज तक मानव ने प्रगति ही की है, बानर योनि से निकलकर वह आगे ही बढ़ा है। यही सत्य इस बात का द्योतक है कि जीवन की किताब का संदेश ऊर्ध्वगामी है, अधोगामी नहीं। इसलिए दुनिया में आशावाद के लिए काफ़ी सामग्री है, निराशावाद के लिए नहीं। हाँ जो सुख और आनन्द की ओर आँखें मूँदकर अँधेरा और दुख देखने का निश्चय ही कर चुके हैं उन्हें कौन दिया बनायेगा? रस्सी को साँप मानकर ही कोई प्राण छोड़ दे तो इसका क्या इलाज?

एक खाँ साहब कुएँ पर नहाने गये। लँगोट पहन कर उन्होंने पैजामा धोया और धोने पर सुखाने डाला तो वह थोड़ी देर बाद उड़कर कुएँ में जा गिरा। जब खाँ साहब को पता लगा तो वे हाय-तोबा करके रोने लगे। हाँ, किसी ग़रीब का पैजामा खो जाय तो दुख होना बिलकुल

स्वाभाविक है, लेकिन उनका क्रन्दन इस दुर्घटना के परिमाण में बहुत ज़्यादा था, इसलिए लोग घबड़ाये हुए आये और पूछने लगे—"क्या हुआ भाई, क्यों रो रहे हो ?"

"मेरा पैजामा कुएँ में गिर गया," खाँ साहब ने रोते-रोते कहा।

"हाँ, बुरा तो हुआ, लेकिन इसमें इतना रोने की क्या बात है ?" एक ने आश्चर्यचकित होकर कहा।

"अगर मैं पैजामे में होता तो मैं भी गिर पड़ता न ?" खाँ साहब ने उसी तरह बिलखते हुए कहा।

अब आप इस मनोवृत्ति को क्या कहेंगे ? यह तो उसी बालक की वृत्ति जैसी हुई, जिसके हाथ से रास्ते में कहीं एक इकन्नी खो गयी और वह आर्त-स्वर में रोने लगा। एक सज्जन को, जो उस रास्ते से गुज़र रहे थे, उस पर रहम आ गया और उन्होंने उससे रोने का कारण पूछा।

"मेरी इकन्नी खो गयी है, अम्मा ने मिठाई के लिए दी थी," उस बच्चे ने आँसू पोछते हुए कहा।

"ख़ैर कोई बात नहीं। उसे गुम जाने दो, यह लो दूसरी इकन्नी।"

बच्चे ने इकन्नी तो ले ली लेकिन अपना रोना उसी तरह जारी रखा। वे महाशय परेशान हो गये। फिर पूछा—"अरे बच्चे, अब क्यों रोते हो ?"

"वह इकन्नी नहीं गुमती तो मेरे पास दो इकन्नियाँ हो जातीं न।" और वह फिर रोने लगा।

ऐसी मनोवृत्ति के लोग अपने ही हाथ से अपने मार्ग पर दुख के काँटे बिछा देते हैं और दुनिया को दोष देते फिरते हैं या किस्मत के नाम पर रोते हैं।

अगर हम जीवन की किताब को सही तौर पर पढ़ना सीख सकें तो हमें बहुत ही लाभदायक सबक मिल सकता है। कुदरत की हर छोटी-सी

चीज़ में भी गहरा अर्थ रहता है। कवि वर्डसवर्थ तो यहाँ तक मानता था कि प्रकृति देवी के सम्पर्क से मनुष्य को नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति और मानसिक शान्ति की प्राप्ति हो सकती है, तथा उसकी चिन्ताएँ, तकलीफें आदि रफ़ा हो सकती हैं। इसी कल्पना को कई हिन्दी-उर्दू के कवियों ने भी सच माना है। कवि की प्रगल्भ दृष्टि, दिव्य सूझ और उदात्त कल्पना को छोड़ दें, तब भी हम जैसे साधारण व्यक्तियों को भी निसर्ग की प्रत्येक कृति में चमत्कार दीख सकता है। बशर्ते कि हम उसे उचित दृष्टि से देखें।

इन अनगिनती तारों से आभूषित व्योम-मण्डल को ही लीजिए। शान्त भाव से पड़े-पड़े उसकी ओर देखिए तो न जाने कितने विचार मन में उठते हैं। ये टिमटिमाते तारे यहाँ से न जाने कितनी दूर हैं, और दुनिया के परिमाण में कई तो कितने बड़े हैं। उनके हिसाब से यह पृथ्वी कितनी छोटी है। और उस पृथ्वी में मानव एक अल्प-सा प्राणी, कितना छोटा, कितना नगण्य है! वह क्यों अहंकार करे, काहे का दंभ करे? इतने बड़े विश्व के विधान में वह कितनी-सी चीज़ है, जैसे अगाध सिन्धु में पानी का बुलबुला। कब उठा और कब फूटा, किसी को पता नहीं। हम नासमझी में अपनी छोटी-सी दुनिया को, ज़रा से घर-बार और बाल-बच्चों को, नाहक अत्यन्त महत्व दे देते हैं, पर इतनी विशाल पार्श्वभूमि पर उसका क्या मूल्य है? क्यों न हम यह सोचकर विनम्र बनें, व्यर्थ का अभिमान त्याग दें। या फिर, देखो, वे सुन्दर शुभ्र चमकते हुए तारे! कितनी शुद्ध और सौम्य, सात्विक प्रकाश की किरणें बिखेर रहे हैं? क्यों न हम अपने जीवन को भी उन्हीं जैसा शुद्ध, सरल और सात्विक बनायें?

दिवस और रात्रि के इस अनिर्बंध क्रम को ही ले लें या ऋतुओं के आगमन-प्रत्यागमन को ही ले लें। हम देखते हैं, रात्रि के अवसान के

बाद प्रभात काल का उदय होता ही है। क्यों न हम अपनी तकलीफ़ों और मुसीबतों के दिनों में इस सन्देश से हिम्मत पा लें ? समय का चक्र ऐसा होता है कि सब दिन एक समान नहीं होते। दुर्दिन हैं तो वे भी हमेशा के लिए तो रह ही नहीं सकते। कविवर शैली की वह प्रसिद्ध पंक्ति एक चरम सत्य का दिग्दर्शन करती है—If winter comes, can spring befar behind ?

आम जैसे वृक्षों को ले लीजिए। ख़ुद बेचारे धूप में तपते हुए खड़े रहते हैं लेकिन थके-माँदे मुसाफ़िरों को अपनी शीतल छाया में स्नेहपूर्ण आश्रय देते हैं। कोई-कोई वृक्ष तो श्रम परिहार के लिए फल भी खिलाते हैं। क्या हम उनसे लोकसेवा का आदर्श नहीं ले सकते ?

गुलाब को फूलों का बादशाह कहते हैं। संस्कृत और फ़ारसी के कवियों ने इस सौन्दर्य सम्पन्न पुष्पराज की महिमा गायी है। उनमें काँटे लगे हैं, जो बतलाते हैं कि प्रत्येक अच्छी वस्तु प्राप्त करने के लिए ख़तरे के रास्ते से गुज़रना ज़रूरी है। विश्व में भला और बुरा मिला-जुला है। समूचा सुख या समूचा दुःख दुनिया में नहीं होता। और दुःख के बिना सुख का आनन्द भी नहीं है। धूप में पैदल चलने के बाद ही वृक्ष की सघन छाया का मज़ा अनुभव किया जा सकता है। इसलिए यदि गुलाब का फूल तोड़ना है तो ख़बरदार ! सम्हल के आना, नहीं तो काँटे लगेंगे। और फूल तोड़ने की कला मालूम है तो गुलाब का फूल आपके हाथ में बिना कष्ट के पड़ सकेगा। नहीं तो ख़ून की धारा बहने लगेगी।

क्या जीवन के बारे में यही बात सच नहीं है ? आप यदि जीवन की कला जानते हैं तो आपको सुख, आनन्द और यश की प्राप्ति होगी; आपको सफलता प्राप्त होगी। यदि आप इस सार्वभौम कला से अनभिज्ञ हैं तो क़दम-क़दम पर आपको मुसीबतों के काँटे गड़ेंगे और अपयश, वेदना और निराशा के आघातों से आपके हृदय से ख़ून बहने लगेगा।

लेकिन निराश होने की ज़रूरत नहीं। यह कला सीखना मुश्किल नहीं है। न इसे सीखने के लिए आपको स्कूल या कालेजों में दाख़िल होने की आवश्यकता है। रुपया भी न ख़र्च करना होगा। किताबें भी न पढ़नी होंगी। हाँ, सिर्फ़ एक ही किताब पढ़ने की ज़रूरत हैं और वह है जीवन की किताब! आँखें खुली रहें, कान सतर्क रहें, मन जागरूक रहे, हृदय में सहानुभूति और सर्वप्रेम हो, बस, इतना जिसने कर लिया है वह इस सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण पुस्तक को पढ़ सकता है।

और जिसने यह किताब पढ़ ली है उसे फिर और कुछ जानने को नहीं रहा है। वह सदासुखी है। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध और गांधी ने सिर्फ़ इसी ग्रन्थ का तो अध्ययन किया है और उससे क्या पाया है सो दुनिया जानती है।

और यदि आप यह सोचते हैं कि इस असली पुस्तक को भूलकर लोहे की कीलों से छपी हुई किताबों में ही सत्य पाया जा सकता है तो ईश्वर आपका भला करे।

बाहर ख़बर भिजवा दी कि उनके स्वागत की ज़ोरदार तैयारियाँ की जायँ। शहर में उनके एक ख़ास हिमायती थे, जो बतौर मुनीम के उनका काम करते थे। उन्होंने तमाम शहर भर में टेलीफ़ोन करके पत्रकारों, फूल-मालाओं, मोटरों और हितैषियों की जेल के फाटक पर एक ख़ासी भीड़ लगा दी। नेता जी को २००१) की थैली भी अर्पण की गयी। बड़ा जम कर स्वागत हुआ। नारे लगे, तसवीरें खिचीं, अख़बारों के कॉलम भी स्वागत में भरे गये, बड़ा आनन्द रहा। विशेष बात यह थी कि इस सबका आयोजन और पाई-पाई का ख़र्च स्वयं नेता जी ने ही किया था।

मुझे कोई शिकायत नहीं है। केवल एक ही बात है। यह सब स्वयं-स्फूर्ति से होता, लोगों के स्वाभाविक उत्साह और स्नेह के कारण होता, जैसा कि गांधी जी, पटेल आदि के बारे में होता था या नेहरू जी के बारे में होता है तो कोई बात नहीं थी। पर जब इतने सबके लिए इतनी मेहनत-मशक्कत करनी पड़ती है और सब ख़ुद के ख़र्च से, तो वह लोकप्रियता

की नहीं, लोकविमुखता की निशानी है। भद्दपन और संस्कारहीनता का लक्षण है।

पर हमारे नेता जी को इसकी परवाह कहाँ? जो जानते हैं, वे तो जानते ही हैं कि ढोल के अन्दर कैसी पोल है, पर अधिकांश तो ऐसे ही होते हैं, जो अख़बारों में छपी हुई रिपोर्ट को पत्थर की लकीर मानकर उससे प्रभावित होते हैं, और सचमुच मानने लगते हैं कि यदि उत्तर-प्रदेश ने नेहरू को पैदा किया है, तो हमारे प्रदेश ने नेता जी को। यह बात अलग है कि नेहरू विश्व-ख्याति के व्यक्ति हो गये हैं और हमारे नेता जी वहीं के वहीं लेफ़्ट-राइट करते खड़े हैं। पर साहब, आयोजन और मेहनत में कोई कमी नहीं है, यह तो मानना होगा।

लेकिन नेता जी बेचारे भी क्या करें? उनकी भी अपनी सफ़ाई है—"भई, क्या करें? डेमोक्रेसी का, प्रजातन्त्र का ज़माना है। जब तक अपना ढोल नहीं बजता तब तक प्रजा पर कोई असर ही नहीं पड़ता! केवल रुपया कमाने की बात होती तो वह गद्दी पर बैठ कर भी कमाया जा सकता था। पर जब जनता की वोटें लेने की बात है, तो अखबार, फूलमालाएँ और फोटो तो चाहिए ही। बग़ैर पब्लिसिटी के काम ही नहीं चलता। हम भी तो लाचार हैं।"

शायद इसी लिए किसी शायर ने कहा है—

"खींचो न कमानें, न हो तलवार निकालो,
गर तोप मुक़ाबिल है तो अख़बार निकालो।"

अब वह ज़माना गया जब तोप और बन्दूकों से जंग और फ़तह होती थी और राज बनते-बिगड़ते थे। अब तो वोटों के बल पर राज्य बनते और उलटते हैं और वोटें उसी को मिलती हैं, जिसका प्रचारतंत्र सबसे बढ़िया हो। जहाँ प्रचार की बात आयी, वहाँ अखबारों को कौन भूल सकता है?

यह पब्लिसिटी या प्रसिद्धि की भूख केवल नेतागिरी तक ही सीमित

नहीं है, यह तो मनुष्य स्वभाव के रोम-रोम में भरी हुई है और उसके जीवन के हर क्षेत्र में दिखायी पड़ती है। केवल मनुष्यों की बात ही क्यों, साक्षात् भगवान भी प्रसिद्धि और प्रशंसा के भूखे रहते हैं। नारद मुनि का तीनों लोकों में जो प्रभाव था, उसका कारण भी तो यही था कि वह जिसके पास जाते थे, उसका जयघोष किया करते थे। बस, देवतागण ख़ुश हो जाते और नारद जी को अपनी कूटनीति चलाने के लिए अवसर मिल जाता।

दूसरे एक और नेता जी की सच्ची कहानी सुनिए। वह जेल में बीमार पड़े तो उनके स्वयं के अख़बार में (हर एक बड़े नेता बनने वाले का एक न एक अख़बार रहता ही है) बड़े-बड़े अक्षरों में, उनके फ़ोटो के नीचे छपा—

"स्वनामधन्य, देशकेसरी श्री अमुक जी, जो कारावास में दाद-रोग से पीड़ित हैं..."

अब भला बताइए—दाद-रोग से भी पीड़ा हो सकती है, जिससे शिकायत हो ? उसे तो रोगों का राजा कहते हैं और वह अकसर बड़े लोगों को ही होता है। एक मसखरे शायर ने जब यह मिसरा सुना कि "मरने-वालों से कोई लुत्फ़े शहादत पूछे", तो फ़ौरन उसने तुक से तुक मिला दी—"दाद वालों से कोई लुत्फ़े खुजाहट पूछे।"

ख़ैर, अख़बारों में जमकर प्रोपेगेण्डा हुआ, सरकार को तार पर तार जाने लगे कि नेता जी को इलाज के लिए छोड़ दिया जाय। सरकार की निगाह में वह ऐसे ख़तरनाक राजबंदी भी नहीं थे कि उन्हें छोड़ने में कोई धोखा हो, इसलिए अचानक जेल से छोड़ दिये गये। छूटते ही नेता जी ने घर पर तार दे दिया और साथ ही अपने शहर की कमेटी को भी, कि "मेडिकल ग्राउण्ड पर अकस्मात छोड़ दिया गया। कल सुबह की गाड़ी से पहुँच रहा हूँ। स्वागत का इंतजाम कीजिए।"

अब क्या था ? स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। जब स्वयं नेता जी

का हुक्म हुआ तब कमेटीवाले बेचारे क्या करते ? यहाँ घर के लोगों ने सोचा, पता नहीं नेता जी की तबीयत का क्या हाल है ? जलूस निकाला तो सारे रास्ते धूल खानी पड़ेगी, सभा में भाषण देना होगा, जिससे फेफड़ों पर ज़ोर पड़ेगा, तबीयत ज़्यादा ख़राब हो जायगी। बेहतर हो एक स्टेशन पहले ही उतार कर उन्हें चुपचाप घर ले आया जाय।

नेता जी ने जब जंकशन से पहले स्टेशन पर घर की मोटर देखी तो बोले, "मैं यहाँ हरगिज़ नहीं उतरूँगा। बड़े स्टेशन पर स्वागत की तैयारियाँ हुई होंगी। जनता को निराश होना पड़ेगा। नहीं, उनका दिल नहीं तोड़ सकता।"

इधर कमेटीवालों ने बड़े स्टेशन पर किसी तरह हज़ार-डेढ़ हज़ार की भीड़ तो इकट्ठी कर ही ली थी। जब लोगों को पता चला कि घर की मोटर पहले ही स्टेशन पर नेता जी को लेने के लिए गयी है तो खीज उठे। सो सारी भीड़ तितर-बितर हो गयी। जो निष्ठावान लोग थे, वे पक्की सड़क से उस छोटे स्टेशन की ओर बढ़ने लगे, ताकि कम से कम रास्ते में ही नेता जी की मोटर पकड़ लें।

नतीजा यह हुआ कि जब नेता जी की गाड़ी बड़े स्टेशन पर पहुँची तो सिवा कुली और खोमचेवालों की भीड़ के और कोई नहीं दिखायी दिया। गुस्से में आकर एक कुली से बोले—

"क्यों जी, जनता कहाँ है ?"

"जनता ? कैसी जनता ?"

"अरे, जनता नहीं जानता ? जनता यानी लोग-बाग, भीड़।"

"हाँ हाँ, मजमा ? सुनत रहैं कि कोई नेता आय रहा तो मजमा आवा हता। फिर सुनत रहैं कि वह मजमा चला गया, काहे से कि वह नेता फर्जी निकला।"

नेता जी के लिए गुस्से के मारे बोलना मुश्किल हो गया। ऐसा लगा

जैसे जले पर नमक छिड़क रहा हो। चुपचाप सामान उतरवा कर ताँगे में सवार हो गये क्योंकि उनकी मोटर अब तक पहुँच नहीं पायी थी।

इसी तरह अपने भाषण की रिपोर्ट स्वयं लिखकर अख़बारों को भेजने वाले, अपना फ़ोटो खिंचवाकर पैसा देकर छपवाने वाले, अपने ही हाथों अपने नाम के आगे विशेषणों की रेलगाड़ी जोड़नेवाले सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता आपको ज़िले-ज़िले में मिलेंगे। शुरू-शुरू में तो यह चल जाता था, पर अब लोगों के मन में इस ढकोसले के प्रति अरुचि पैदा होती जा रही है।

अभी तक तो शास्त्रज्ञों ने मानव की दो भूखों का ही ज़िक्र किया है; एक है आत्मसंरक्षण की और दूसरी वंशनिर्माण की, जिसका सम्बन्ध यौनक्षुधा से है। पर अब इसमें हमें तीसरी भूख का भी समावेश करना होगा, जो है प्रसिद्धि की भूख! और जो इन दोनों से किसी क़दर कम नहीं।

इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य के मूल स्वभाव से ही है। मानव हमेशा आत्म-प्रकटीकरण चाहता है, अपने आपको प्रकाश में लाना चाहता है, और लोगों के सामने अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करना चाहता है। यह क्षुधा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप लेती है। केवल नेताओं में ही नहीं, सर्वसाधारण व्यक्तियों में भी यह क्षुधा विद्यमान है और प्रकट होती रहती है। उसका स्वरूप भले ही भिन्न हो।

जो स्त्री दर्पण के सामने आते ही अपना मुँह न देखे वह नोबल पुरस्कार पाने योग्य है। और स्त्रियों की ही बात क्यों की जाय, ऐस कौन-सा पुरुष है, जो दर्पण को देख कर आँखें मिचकाने और मुँह मटकाने के बिना चैन पाता है? कहीं आपका ग्रूप फ़ोटो निकला हो तो उसमें सबसे पहले आप देखेंगे अपना फ़ोटो। वह अच्छा निकला, तो सब अच्छा है, वरना तमाम फ़ोटो और उसमें बैठे बीसों व्यक्ति बेकार हैं।

लेकिन सब लोगों को एक ही ग्रूप में शामिल करने में कभी-कभी बड़ी आड़चन पैदा हो जाती है। एक बार ऐसी ही मज़ेदार घटना हो गयी।

तीसरी भूख

एक अंग्रेज़ कमिश्नर की एक छोटी सी तहसील में, जहाँ वह दौरे के लिए आये थे, बड़ी शानदार पार्टी दी गयी। बात उस ज़माने की है, जब अंग्रेज़ों का राज्य था। रायसाहबों, खानबहादुरों और धनिक सेठों ने जमकर चंदा इकट्ठा किया और शानशौकत की हवेली खड़ी कर दी। राजधानी से, जो करीब पचास मील दूर थी, मिठाइयाँ आयीं, हार गुलदस्ते आये, बैंड आया और साथ ही फ़ोटोग्राफ़र भी आया।

पार्टी के लिए जिन्होंने चंदा दिया था, उनकी तादाद पहुँच गयी सौ-सवा सौ तक। उन सबको कमिश्नर साहब के साथ एक फ़ोटो में शामिल करना बड़ा मुश्किल काम था। हज़ार कोशिश करने के बाद भी पहली कतार के दो-चार व्यक्ति फ़ोकस के भीतर न आ सके, जिनमें एक रायसाहब भी थे।

इधर कमिश्नर साहब की मोटर रवाना होने के लिए तैयार थी। फ़ोटोग्राफ़र ने जब 'रेडी' कहा तो वह रायसाहब इस क़दर अटेनशन बैठ गये जैसे अकेले उन्हीं का फ़ोटो खिंच रहा हो। पर जब तसवीर बनकर आयी तो देखा कि वह उसमें से नदारद हैं, क्योंकि वह फ़ोकस के बाहर थे। झल्लाकर फ़ोटोग्राफ़र से बोले—

"क्यों जी, हमारा फ़ोटो इसमें नहीं दिखायी देता?"

"रायसाहब, भला बताइए," उसने फ़ौरन जवाब दिया, "मिनटों में तो फ़ोटो खिंचता है—उतने में वह किस-किस का ले? आदमी ज़्यादा हो जाने से कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है।"

यह प्रसिद्धि पाने की भूख बहुत दूर तक चली जाती है। एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता की पत्नी बीमार थी। उनका किसी दैनिक अख़बार से सम्बन्ध था। रोज़ाना उसमें उनकी तबीयत का हाल छपता था। जो उनसे मिलने आते, उनका नाम भी अख़बार में छप जाता था। नतीजा यह

हुआ कि तीमारदारों की संख्या बढ़ने लगी। वे रोगी को देखने आते या अख़बारों में अपना नाम छपवाने, यह कहना कठिन है।

फिर बाद में उस बेचारी महिला की मृत्यु हो गयी। शवयात्रा में शामिल होनेवालों की ख़ासी भीड़ हो गयी। उनके नाम अख़बार में छपे, फिर जिन्होंने समवेदना के पत्र लिखे उनके नाम भी क्रमशः उस समाचार-पत्र में छपते जाते थे। कुल मिलाकर यह बीमारी का मामला सार्वजनिक रीति से महीने भर तक चलता रहा।

ज़रा अजीब-सा मालूम होता है। किसी के घर में मृत्यु हो जाय, यह सचमुच दुख की बात है। पर उस दैवदुर्विपाक को भी प्रसिद्धि का साधन बनाकर अपनी क्षुधा शमन की जाय, इससे बढ़कर विडम्बना क्या हो सकती है?

इस प्रकार एक और बड़े कार्यकर्त्ता का पत्र मुझे मिला, जिसका आशय इस प्रकार था—

"आपको यह जानकर दुख होगा कि गत रात्रि को डेढ़ बजे मेरे ताऊ जी का स्वर्गवास हो गया। दुख होना तो स्वाभाविक है, पर जो हुआ है, वह विधिगति के कारण ही हुआ है। इसलिए हमें तो विवेक से ही काम लेना चाहिए। आप इस अवसर के निमित्त भेंट करने आयँगे। पर आपसे प्रार्थना है कि इसमें आप अपना समय व्यर्थ न गवाएँ। वही समय देश-सेवा में लगा दें।"

अब इसे आप क्या कहेंगे? सिवा भद्दे, असंस्कृत और अशिष्ट प्रदर्शन के और कुछ नहीं। मैं उस पत्र के लेखक को तो जानता था, पर उनके ताऊ जी का नाम भी कभी नहीं सुना था। वह मरे तो बुरा तो हुआ होगा, पर उससे मेरा क्या सम्बन्ध? और क्यों मुझे देश-सेवा में समय लगाने की यह नसीहत? शुरू से आख़ीर तक हर चीज़ भद्दी और बद-

सूरत। किसी-न-किसी रूप से लोगों के सामने प्रकाश में आने की और उनकी सहानुभूति पाने की मनहूस हविस के सिवा और कुछ नहीं।

इन्हें यह भी पता नहीं कि यथार्थ में बहादुर और आत्मसम्मान रखने वाला व्यक्ति अपना दुख चुपचाप बरदाश्त करके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालेगा। घनघोर युद्ध का संचालन करते समय अपनी पत्नी की मृत्य का तार पढ़ कर चुपचाप जेब में रखने वाले और उसी तरह काम करते हुए अपनी फ़ौज को विजय का सेहरा चढ़ाने वाले कर्त्तव्यनिष्ठ कमाण्डर की कहानी भी हम जानते हैं। उसने सोचा कि यहाँ तो पत्नी के रूप में एक ही व्यक्ति की मृत्य हुई है, पर यदि अपना संतुलन खो कर मैंने ग़लत हुक्म दिया तो पूरी रेजीमेंट की रेजीमेंट भुन जायगी। लेकिन इतनी कर्त्तव्य भावना आजकल कहाँ?

आजकल तो हाल यह है कि 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।' नेकनामी हो या बदनामी—नाम तो है ही। कुछ लोग तो चुनाव में यह जानते हुए भी खड़े हो जाते हैं कि उनकी जमानत ज़ब्त होने वाली है। पर उसमें चुनाव के नतीजे तक चर्चा तो होती रहती है। उस पर तुर्रा यह कि 'भई, मैं खुद तो खड़ा होना नहीं चाहता था पर क्या करूँ, जनता जो चाहती है।' क्या करें बेचारे? जनता का नाम लेने से सब ख़ून माफ़ हो जाते हैं? चुनाव में खड़े हैं तो जनता के नाम पर। कालाबाज़ार करते हैं तो जनता के नाम पर। शराब का ठेका है सो भी जनता के नाम पर। बेचारी जनता को पता भी नहीं कि उसके नाम पर कितना पुण्य कार्य हो रहा है।

दूसरों से किताब लिखवा कर अपने नाम छपवाना, दूसरों से भाषण लिखवा कर माइक्रोफ़ोन के सामने खड़ा हो उसे ठीक से पढ़ भी न सकना, अपने ख़र्च से फ़ोटो छपवाना, मानपत्र दिलवाना यह सब आज के समाज

में बहुत बड़े पैमाने पर हो रहा है। इसमें अशिष्टता है, मिथ्याचार है, इसका भी इन यारों को ख़याल नहीं। तौर-तरीका कुछ भी हो, नाम चाहिए, प्रसिद्धि चाहिए। पीठ पीछे गालियाँ दो तो हर्ज़ नहीं, पर सामने दाद दो।

पढ़े-लिखे लोगों का जब यह हाल है तो उस बेचारे चमार से क्या कहा जाय जो राज दरबार से लौटने के बाद अपनी औरत से शान से बोला—

"आज राजा साहब ने केवल दो आदमियों से बात की। एक तो प्रधान मंत्री से और एक मुझसे।"

"अच्छा ?" श्रीमती चमार की बाछें खिल गयीं। "क्या बोले राजा साहब ?"

"प्रधानमंत्री से तो शायद उन्होंने राजकाज का हाल पूछा। और मुझ से बोले, "क्यों रे, चमरवा, रास्ते में क्यों खड़ा है !""

ऐसी प्रसिद्धि से तो हाथ जोड़े। इससे तो बेहतर है अज्ञातवास में रहना। जो ठोस काम करते हैं या जिनमें यथार्थ में कोई गुण या योग्यता है, वे तो अपने आप ही चमक उठते हैं।

गांधी जी तो हमेशा प्रचार और प्रकाशन से दूर भागते थे, यहाँ तक कि जब एक बार वर्धा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में भाषण दे रहे थे तो अपने सामने कैमरे को देखते ही अपना चेहरा अपनी शाल से पूरा ढक लिया, जिससे सारा सभा भवन हास्य-विनोद से गूँज उठा। उनका तो कहना है कि गुलाब में यदि स्वाभाविक गुण है तो वह कहीं भी महकेगा ही। कागज़ के फूलों को गुलदस्ते में कितना भी सजाकर रखो, तब भी वे निर्गन्ध हैं, निर्जीव हैं।

लेकिन मज़ा यह है कि गांधी जी प्रसिद्धि से जितना दूर भागते थे, उतनी ही वह उनके पीछे आती थी। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"छाया अरु सम्मान गति, एकहि सो दरसात ।
अनचाहे पीछे लगत, चाहे दूर परात ।"

अर्थात् प्रसिद्धि के पीछे लगो तो वह छाया की तरह आप से आगे-आगे भागती जायगी । लेकिन उससे मुँह फेर लो तो वह आपके पीछे-पीछे चलने लगेगी ।

इसके लिए आवश्यकता है आत्मविश्वास की । जिसे अपनी कला, गुण या योग्यता पर भरोसा है, वह आज नहीं, कल प्रकाश में आयेगा ही । बग़ैर योग्यता या सम्पन्नता के प्रसिद्धि पाने की हविस करना बालू की नींव पर मकान बनाने जैसा है । उसमें नाम का बोलबाला ज़रूर जल्दी होता है, पर मुँह काला होने में भी देर नहीं लगती । हाँ, योग्यता के बाद उचित प्रमाण में प्रसिद्धि पाने की इच्छा रखना अनुचित बात नहीं है, लेकिन उसके बिना तो 'नाम बड़े दर्शन छोटे' की कहावत ही चरितार्थ होती है ।

ऐसे लोगों का हाल तो साहित्य सम्मेलन के एक धनिक स्वागताध्यक्ष सेठ जी की तरह ही है, जिन्होंने लक्ष्मी की कृपा तो पायी थी, पर सरस्वती के प्रसाद से बेचारे पूर्णतः वंचित रहे । उनका भाषण लिखा मंत्री जी ने, जिन्हें वह वकील साहब कहते थे । जब भाषण में प्रारम्भ में ही 'साहित्यानुरागी' शब्द आया तो वह 'सा...सा...हि' के आगे न बढ़ सके । जब तीसरे प्रयत्न में भी इससे ज़्यादा नतीजा न निकला तो वह मंच पर से ही लाउड स्पीकर पर बोल उठे ।

"अरे, वकील साहब कहाँ हैं ? घणी मुश्किल स्पीच लिख दी है ।"

सम्मेलन के सभापति भी विनोदी थे । बोले, "आप काहे को तकलीफ़ करते हैं, सेठ जी । उन्होंने लिखी है तो उन्हीं को पढ़ने दीजिए ।"

अन्नदाता

●

एक आस्ट्रियाई नर्तकी के बारे में एक बात पढ़ी थी। वह बहुत लोक-प्रिय थी और उसके नृत्य-संगीतों के कार्यक्रम इतने सफल होते कि टिकट-घर में रुपयों के ढेर लग जाते। यूरोप, इंगलैण्ड, अमरीका—जहाँ-जहाँ भी उसने प्रवास किया, समाचार-पत्रों में उसकी प्रशंसा की झड़ियाँ लग जातीं तथा उसके कार्यक्रमों को देखने के लिए बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सरदार, मंत्रिगण, करोड़पति, लेखक, छायाकार, श्रमजीवी मज़दूर आते। आते क्या, टूट पड़ते। उसकी अपूर्व सफलता देखकर सब लोग दंग रह जाते। एक लेखक ने, जो उसकी जीवनी लिख रहा था, उससे उसकी इस अलौकिक सफलता का रहस्य पूछा। उसने बताया—"जब रंगमंच पर जाने का क्षण आता है तब उसके पहले मैं अपने निजी कमरे में घुटने टेककर भगवान से विनय पूर्वक प्रार्थना करती हूँ कि जिन दर्शकों के सामने मैं जाने वाली हूँ वे मेरे अन्नदाता हैं। उनको मैं पूरा-पूरा आनन्द दे सकूँ, उनका मनोरंजन कर सकूँ, ऐसी मुझे शक्ति दो,

जिससे उनमें से किसी को भी यह न लगे कि उनके पैसे का मूल्य नहीं मिला। उनका परम संतोष हो, यही मेरा ध्येय रहता है।"

इस नर्तकी ने यथार्थ में एक बहुत बड़ा सत्य जान लिया, यह मानना होगा। मानो वह सफलता की कुंजी ही पा गयी हो। यश, लाभ और कीर्ति के दरवाज़े उसके लिए सदा ही खुले रहे।

जो बात वह नर्तकी अपने जीवन में कर सकी, वह हम लोगों में से प्रत्येक कर सकता है। ऐसा कौन है जो जीवन में सफलता नहीं चाहता, प्रगति नहीं चाहता! कल का दिन आज से अधिक अच्छा हो, उसमें अधिक सुख मिले, धन मिले, यश मिले, यह इच्छा हर एक के मन में रहती है। पर केवल चाहने से कुछ नहीं मिलता। उसके लिए कुछ करना पड़ता है, उचित ढंग से करना पड़ता है, उचित मनोवृत्ति रखनी होती है। यह जो करता है उसके स्वागत के लिए यश हमेशा जयमाल लिये खड़ा रहता है।

उस नर्तकी के जीवन से यही सत्य निकलता है कि जिसके कारण हमारी जीविका चलती है, जो हमारा अन्नदाता है, उसके प्रति हम वफ़ादार रहें, उसकी चाकरी हम पूरी-पूरी बजायें। यदि यह भाव हमारे हृदय में सतत् जाग्रत है तो हमारी सफलता ठीक उसी तरह निश्चित है जिस तरह रात के बाद सूरज का निकलना।

गांधी जी ने अपने ग्राम-सेवकों को यही दीक्षा दी थी। जब उन्होंने ग्रामोद्धार के लिए स्वयं सेवकों की ऐसी सेना तैयार की जो चौबीसों घंटे उस कार्य में रत रहे, तब एक कार्यकर्ता ने पूछा—"ग्राम-सेवक के खाने का क्या होगा?"

गांधी जी ने तुरन्त जवाब दिया—"सेवक यदि उस ग्राम के दैनिक जीवन और सुख-दुख से पूरी तरह समरस हो जाता है, हमेशा उसी के

कल्याण की बात सोचने लगता है तो वह ग्राम उसे कभी भूखा नहीं मरने देगा। सेवक के दिल में यह अटूट श्रद्धा होनी चाहिए।"

गांधी जी ने जो बात कही वह बहुत महत्व की है। हमारे देश में सदैव ऐसी परम्परा रही है कि जो अभ्यागत हैं, साधु हैं, प्रवासी हैं, उन्हें भोजन दिया जाय। कुछ न करते हुए भी जहाँ भोजन देने की व्यवस्था है वहाँ काम करने वालों को, अपनी सेवा और कल्याण की बात करने वालों को कभी भूखा मरना पड़े, यह असम्भव है।

हममें से प्रत्येक का, वह राजा हो या रंक, कोई न कोई अन्नदाता तो होता ही है। उसको हम ईश्वर मान लें, देश कहें या समाज, पर हमारा कोई-न-कोई अन्नदाता है ही। जो हमें अन्न देता है, जो हमारे शरीर यन्त्र को चलाये रखता है, जो हमारे और हमारी मृत्यु के बीच वरदान बनकर हमारे जीवन को टिकाता है, उसके प्रति कृतज्ञ-भाव न होना घोर कृतघ्नता है, मानवता का द्रोह है। अच्छे भाग्य या अनुकूल परिस्थिति के कारण हम इस सत्य को भले ही न देख सकें या उसकी आँच से क्षणिक रूप में बच जायें, पर एक-न-एक दिन उसकी भयंकर ठोकर खाये बिना हम नहीं रह सकते। फिर पछताने से भी कुछ हाथ नहीं आयेगा।

साधारणतः दैनिक जीवन में हमारा अन्नदाता वही है जिसके कारण हमारी उपजीविका चलती है। हम सरकारी नौकर हों, व्यापारी हों या सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाले विधान सभा के सदस्य हों, हमारे सब के कोई-न-कोई अन्नदाता हैं ही, जिनकी सेवा करने से ही हमारा कार्य चलता है। व्यापारी या दूकानदार के अन्नदाता हैं—उसके ग्राहक। उसका कर्तव्य है कि वह देखे कि ग्राहक पूरी तरह सन्तुष्ट जाता है, जो पैसे उसने दिये हैं, उसका पूरा-पूरा और अच्छा माल उसके पल्ले पड़ा

है, और उसने किसी भी कारण ग्राहक के अज्ञान और ग़रजमन्दी से नाजायज़ फ़ायदा नहीं उठाया है।

सरकारी कर्मचारियों को भी यह समझ लेना है कि समाज के अन्य अंगों से वे कितने भाग्यशाली हैं। औरों को तो आर्थिक जीवन में उतार-चढ़ाव देखने पड़ते हैं, पर इनकी तनख़्वाह एक तारीख़ को पक्की है। तनख़्वाह लेने से किसी को एतराज़ नहीं है, पर हर एक कर्मचारी को, चाहे वह छोटा-सा क्लर्क हो या बड़ा अधिकारी, अपनी छाती पर हाथ रखकर इक़रार करना है—आया वह अपनी तनख़्वाह के बदले पूरी-पूरी सेवा बजाता है या नहीं। आज देश स्वतन्त्र हो गया है और शासन सर्वथा हमारा है, यानी हमारी जनता का, अर्थात जनता ही हमारी अन्नदाता है और उसकी सेवा करने की ही हम तनख़्वाह पाते हैं। हम अपना-अपना काम ठीक करें तो हमारी मालकिन, जो जनता है, उसे सुख मिलेगा, उसकी उन्नति और समृद्धि होगी और उसके साथ-ही-साथ देश भी आगे बढ़ेगा और हम भी आगे बढ़ेंगे। इसलिए हमें देखना है कि हम छः-सात घंटे जो कि हमारे लिए नियुक्त है, बराबर ईमानदारी से काम करते हैं या नहीं। क्या हम चाय-पानी, डिनर-सिनेमा या गप-शप में ही सारी शक्ति ख़र्च कर देते हैं या उसे अपने काम में लगाते हैं। दफ़्तर आते ही लंच की या दफ़्तर बन्द होने की बात सोचने लगते हैं या सामने जो कागज़ के ढेर पड़े होते हैं उनकी फ़िक्र करते हैं? हम ग़लत भत्ता तो नहीं बनाते हैं, शिकार और मौज-शौक़ के लिए तो दौरा नहीं करते? हम यह तो नहीं भूलते कि यह शासन हमारा है और इसकी पाई-पाई बचाना हमारा कर्तव्य है?

इसी तरह हमारी भिन्न-भिन्न विधान सभाओं और समितियों के

सदस्यों के बारे में भी हमें यही देखना है। विधान सभा में जाने की हविश तो सब के मन में रहती है, पर हम यह भूल जाते हैं कि वहाँ जाने के बाद हम पर ज़िम्मेदारियाँ भी अधिक आ जाती हैं। हमें वहाँ जो मासिक वृत्ति मिलती है या भिन्न-भिन्न भत्ते मिलते हैं उसका अर्थ यही है कि अब हम सोलह-आने जनता के नौकर हो गये, क्योंकि उसी के कोष में से हमें खाना मिलता है। पर इन सदस्यों में से कितने हैं जो अपनी सदस्यता को इस दृष्टि से देखते हैं? कितने अपने विषयों का अध्ययन करते हैं, कितने-शासन के प्रश्नों को समझ कर उनके हल निकालने की कोशिश करते हैं, अपने निर्वाचन-क्षेत्र का सतत् दौरा करते हैं? एक समय था जबकि स्वतन्त्रता-युद्ध के ज़माने में इन्हीं लोगों ने घर की रोटी खाकर जनता की सेवा की थी, जेलखाने गये, हर तरह से बरबाद हो गये, पर आज इन्हीं में घोर परिवर्तन हुआ-सा दीखता है। अधिकार तो हम खूब माँगते हैं, पर उसके साथ-ही-साथ कर्तव्य भी पालन करना पड़ता है, यह हम भूल जाते हैं।

हम पत्रकारों के सामने भी यही दृष्टिकोण होना चाहिए। सफल समाचार-पत्रों पर सभी अपना रोब गाँठने की कोशिश करते हैं। जिन्होंने पूँजी लगायी है, वे अपना अधिकार जताते हैं तो सरकार में बैठे हुए राजनीतिज्ञ या अन्य दल अलग शान बघारते हैं। पूँजीपति भी इस क्षेत्र में अपने हाथ-पैर फैला रहे हैं तो फिर पत्रकार किसकी सुनें?

जिस पत्र से मेरा सम्बन्ध है उसमें इस तरह के गम्भीर संघर्ष के अवसर आये तो हमने कार्यालय के कर्मचारियों की एक सभा में यही सलाह दी कि हमारा अन्नदाता और मालिक वह पाठक है जो रोज छः पैसे देकर हमारा अख़बार ख़रीदता है। उसके प्रति हम वफ़ादार रहें, उसकी हम निष्ठा और निडरता से सेवा करें तो हमारा कोई बाल बाँका नहीं कर

सकता। उस पाठक को सत्तात्मक राजनीति या सत्ता के प्रदर्शन में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह तो चाहता है एक निष्पक्ष, निर्भीक अखबार; जो सत्य को न छिपाये और सारी जनता के समग्र कल्याण के हित में संचालित हो, किसी दल-विशेष के हित में नहीं। उसे हम अपनी लगन, निष्ठा, और सेवा से सन्तोष दे सकें तो वह हमें कभी भूखों नहीं मरने देगा।

इसी प्रकार की श्रद्धा जीवन को बल देती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्म ईमानदारी से करे, निष्ठा से करे तो उसके बाकी के सवाल आप-ही-आप हल हो जायँगे। कर्म को यज्ञ भी कहा है। वही हमारा धर्म भी है। हमारे ज़िम्मे समाज का कोई भी कार्य आ पड़ा हो, हम उसे ठीक-ठीक करें जैसे हमारा निज का कार्य है। कबीर जुलाहे का काम करते थे तो सूत के तारों में भक्ति का संगीत भर देते थे। कपड़ा बुनते तो इस प्रकार जैसे अपनी प्रियतमा के लिए बुनते हों। इतने में ही उन्हें भगवान मिल गये। गांधी जी के चरखे का पहले लोगों ने मज़ाक उड़ाया कि सूत से कहीं स्वर्ग मिलता है, पर उनका चरखा चला तो ऐसा कि सूत से स्वराज्य ही मिल गया। अर्थात् गांधी जी ने उसे अपने कार्यक्रम में इतना खपा दिया, अपने सारे प्राण ही उसमें उँडेल दिये कि नतीजा अच्छा निकले बग़ैर कैसे रहता?

पर आजकल हमारी यही निष्ठा कमज़ोर होती जा रही है। कामचोरी की और किसी तरह वक्त निकाल देने की आदत पड़ गयी है। कुछ थोड़ा-सा काम किया, कुछ बहानेबाज़ी कर दी और बाकी की टालमटूल। बस इतने में तो दिन निकल जाता है, पर इसी तरह 'पल-पल, छिन-छिन गयी उमरिया बीत' कहने की नौबत आ जाती है और जब जीवन का लेखा-जोखा होता है तब हाथ में क्या आता है—एक बड़ा शून्य! और फिर पछतावे में तो प्राण निकलना भी कठिन हो जाता है।

इसलिए समय रहते ही चेत जाने में बुद्धिमानी है। मनुष्य-देह बड़ी

मुश्किल से मिलती है। उसे टिकाना, उसके अनुरूप काम करना, इसी में हमारा अभीष्ट है। उसे वरदान मानना चाहिए। हमारा कोई भी काम हो—हम जूते बनाते हों या लेख लिखते हों—सब कामों की प्रतिष्ठा बराबरी की है। जूते बनाते-बनाते ही तो बाटा जगत-प्रसिद्ध आदमी बन गया। हम लिखें तो अपना ही ख़याल न करें कि हमें क्या पसन्द आता है। अपने पाठकों का हम ध्यान न रख कर अपना ही पाण्डित्य बघारते रहें तो उसे सुनने की किसे फ़ुरसत है। हम लिखते हैं तो अपने पाठक के कल्याण और मांगल्य का हमें स्मरण होना चाहिए। क्या हम उसके जीवन में, थोड़ा-सा ही क्यों न हो, आनन्द डाल सकते हैं? क्या उसके कल्याण की भावना को, अल्प-सा क्यों न हो, जगा सकते हैं? क्या उसकी चिन्ता और दुख के भार को रंच-मात्र ही क्यों न हो, हलका कर सकते हैं? उसके हृदय में कुछ प्रेम, कुछ सहानुभूति, कुछ आर्द्रता, कुछ सद्भावना उत्पन्न कर सकते हैं?

जिस पत्तल में खाता है, उसी में छेद करने वाले आदमी को कृतघ्न या नमकहराम कहते हैं। ये शब्द हैं ज़रा कठोर, पर क्या वे हम लोगों में से उन लोगों पर नहीं लागू होते जो अन्न देने वाले की पूरी-पूरी सेवा नहीं करते। और कहीं जो अन्न देता है वह अन्न देना बन्द कर दे तो क्या गत हो? अन्न का बन्द होना यानी मृत्यु! इतनी गम्भीर यह बात है, पर हम उसे कितनी हलकी दृष्टि से देखते हैं! मान लीजिए कि जनता इतनी सशक्त और जाग्रत हो जाय कि वह उसका काम ठीक-ठीक न करने वाले विधान सभा के सदस्य को धक्के मार कर निकाल दे यानी दुबारा न चुने? आलसी और कामचोर कर्मचारी को सरकार नौकरी से निकाल दे? निकम्मे और लक्ष्यहीन पूँजीपति का धन उसे छोड़ दे! लापरवाह और नालायक मज़दूर का काम बन्द हो जाय, पाठक भद्दे और कुरूचिपूर्ण लेखक की किताब लेना बन्द कर दे, मेहनत और अभ्यास न

करने वाले गवैये की महफ़िल ख़ाली होने लगे, तब क्या होगा? पेट में चूहे डण्ड पेलने लगेंगे और दुनिया में कोई जगह नहीं मिलेगी। फिर ऐसी नमकहरामी क्यों?

हमारे शास्त्रों में तो 'अन्न ब्रह्मरसो विष्णु:' कहा है। अन्न खाने के पहले अग्नि को अर्पण करना पड़ता है—गाय को खिलाया कि नहीं? घर के बीमारों ने तो खा लिया? बच्चे तो भूखे नहीं हैं? वृद्धों का भोजन तो हो गया? सब अतिथि आ गये? दरवाज़े पर तो कोई खड़ा नहीं है? और जब इन सब प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिल जाता है तब वह स्वयं भोजन करने बैठता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इतना सब कौटुम्बिक एवं सामाजिक ऋण चुकाने के बाद ही अपने भोजन पर अधिकार होता है। इस सब के बाद भी भोजन देने के पश्चात् आशीर्वाद देना होता है—'अन्नदाता, भोक्ता तथा पाक-कर्ता सब सुखी हों।'

हम अपनी ही चिन्ता करते रहें तो कोई हमारी चिन्ता करने वाला नहीं है। यदि हम औरों की चिन्ता करें तभी वे भी हमारी चिन्ता करेंगे। जो हमें जीविका देता है, उसका काम हमने निष्ठा और वफ़ादारी से किया तो हमारी जीविका चलती रहेगी। पर काम तो दमड़ी का करें और उम्मीद करें कि पहली तारीख़ को अशरफ़ी मिले तो हम जैसा हाथी पालने वाला कौन महामूर्ख होगा। रोज़-रोज़ मुर्गी की हिफ़ाज़त और परवरिश करें तो वह हमें सोने का अंडा देती रहेगी। पर रोज की मेहनत के आलस से या अति-लोभ से हम सभी अण्डे निकालने के लिए उसका पेट चीरेंगे तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। इसलिए हमें ज़ोर देना है अपने दैनिक-कार्य और उत्तरदायित्व पर।

हमारा इतना बड़ा देश है, इतना बड़ा शासन-तन्त्र है और इतना बड़ा मानव-समाज! उसमें मैं अकेला ही निकम्मा निकला तो ऐसा क्या

बिगड़ेगा, यह सोचना ग़लत है। ऐसा सभी सोचने लगें तो सब कुछ चौपट हो जायगा। एक राजा ने एक बार हुक्म दिया कि राजमहल के सामने के हौद में प्रत्येक नागरिक रात में आकर एक लोटा दूध डाल दे। सुबह उठकर देखा तो वह पानी से लबालब भरा है, दूध की एक भी बूँद नहीं, क्योंकि हरएक ने सोचा कि सब तो दूध डालने ही वाले हैं, मैं अकेला ही यदि एक लोटा पानी डाल दूँ तो इतने बड़े हौद में क्या पता चलेगा? पर एक ने सोचा तो सब ने सोचा और वैसा ही हो गया।

इसलिए जो कुछ सोचना है वह हमें अपने ही बारे में सोचना है—दूसरा क्या करता है, इसका तो ख़याल ही न करें। हम क्या हैं, यही देखें तो सब कुछ ठीक हो जायगा। इस तरह हम अपना भी फ़ायदा करेंगे, अपना कर्तव्य-कर्म करते रहेंगे और साथ-ही-साथ समाज की और देश की भी प्रगति करेंगे। अपना कर्म करते रहने से हमारा जीवन बराबर चलता रहेगा, अन्न-जल मिलता रहेगा, मानव देह-धर्म भी पूरा होता रहेगा। यही जीवन का एक योग है। गीता ने इसे ही बड़े सुन्दर और सरल ढंग से कहा है—

योगः कर्मसु कौशलम्।

अपना-अपना चश्मा

●

एक मित्र के विवाह का निमंत्रण आया था इसलिए इस समारोह में शरीक होने के लिए गया। साथ में दो-तीन दोस्त और थे। विवाह के शुभ-उत्सव में हाज़िर होने से आनन्द तो आता ही है, लेकिन उससे ज़्यादा जो उत्सुकता रहती है वह वर और वधू को देखने की। आख़िर यह जोड़ा कैसा शोभेगा। वर को तो हम जानते थे, सवाल सिर्फ़ उस व्यक्ति को देखने का था जो उसकी पत्नी बनने वाली थी।

उस स्त्री को देखकर एक दोस्त बोल उठे, "भई, पसन्दगी तो कुछ अजीब-सी है। बात जँची नहीं।" दूसरे साहब जो उनसे सहमत थे, बोले, "और सुनते हैं यह लव-मैरेज (प्रेम-विवाह) है।"

"प्रेम अन्धा होता है भाई, जानते नहीं?" ये सज्जन भी उन्हीं से सहमत थे।

"यह सब तुम किसकी नज़र से देख रहे हो?" मैंने कहा, "ज़रा

उसकी दृष्टि से देखो तो मालूम पड़े कि उस स्त्री जैसी सुन्दर कोई दूसरी रमणी नहीं है।"

और दरअसल एक सप्ताह बाद जब वे नवविवाहित मित्र मिले तो आनन्द से चमकती हुई आँखों से उन्होंने कहा, "मेरे जैसा सुखी संसार में कोई नहीं है।" उन्होंने जो बात कही वह ठीक थी। दूसरे दोस्त लोग ख़ामख़्वाह उनके लिए परेशान हो रहे थे।

यह वृत्ति हमें आम तौर पर दिखायी देती है। हम सारी दुनिया को अपने ही चश्मे से देखते हैं, और जो इस तरह नहीं देख सकते उनपर तरस खाने लगते हैं और मन-ही-मन ख़याल करने लगते हैं कि वे दूसरे आदमी हमसे किसी-न-किसी तरह न्यून हैं। हमें यदि 'बिहारी सतसई' अच्छी लगी तो हम आशा करते हैं कि दूसरे भी उसे उसी तरह पसन्द करें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो हम सोचते हैं—उन्हें साहित्य से रुचि नहीं है। यदि हम शिवजी की पूजा करते हैं तो वैष्णवों को हम धार्मिक दृष्टि से गौण मानते हैं। यदि हमने केदारधाम की यात्रा की है तो रामेश्वर या द्वारिकापुरी के तीर्थयात्री से बड़े मौज के साथ कहेंगे, "पण्डित जी, बिना केदारधाम के पूरा पुण्य नहीं मिलेगा। सब क्षेत्रों में केदारधाम का महत्व कुछ अलग ही है।" ज़ाहिर है कि यह आग्रह ठीक नहीं है। किसी को भैरवी राग सबसे अच्छा मालूम होता है तो किसी को दरबारी कानड़ा। यदि मेरे चश्मे का फ्रेम सोने का है तो मैं यह क्यों सोचूँ कि जिनका फ्रेम काले गटापारचे का है वह ख़राब है। अपनी रुचि या पसन्दगी दूसरो पर लादना ज़्यादती है। हर एक का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है, अपनी-अपनी रायें होती हैं। सब मनुष्यों का स्वभाव तो एक ढर्रे का कभी नहीं होता। उसमें इतनी विविधता है इसीलिए तो दुनिया में इतना मज़ा है, नहीं तो हम इन्सान नहीं, कारखाने में बनी हुई एक-सी गुड़ियाँ बन जाते और ज़िन्दगी बिलकुल बेज़ायका हो जाती।

लेकिन नहीं, हम सब उम्मीद करते हैं कि और लोग हमारे जैसा ही करें, हम जो पढ़ते हैं वे भी वही पढ़ें, हमारे जैसे कपड़े पहनें। इसमें हमारी अहमियत बढ़ती है और अहंभाव को संतोष मिलता है। बीमारी में अगर एलोपैथी का इलाज शुरू किया तो फ़ौरन कोई सज्जन आकर कहने लगेंगे—'अजी साहब क्यों नाहक वक्त और पैसा बर्बाद कर जान का खतरा मोल लेते हैं, बेहतर हो यूनानी हिकमत की रू से इलाज करवायें, फ़ौरन आराम होगा।' दूसरे साहब कहते हैं— 'आयुर्वेद तो प्रत्यक्ष धन्वन्तरि का चिकित्सा-शास्त्र है। तीन मात्रा में फ़ायदा न हुआ तो मैं कविराज नहीं।' तीसरे कह उठेंगे—'बस साहब रहने दीजिए ये सब बातें। होमियोपैथी बिलकुल इनक़लाबी साइन्स है। दस हज़ार पोटेन्सी की एक ख़ुराक से बुख़ार ऐसा भाग खड़ा होगा कि फिर ज़िन्दगी में कभी आने का नाम न लेगा। क्यों नाहक आयुर्वेद या एलोपैथी के पीछे परेशान होते हैं?' इन सब अलग-अलग डाक्टरों में इस कदर मतभेद और झगड़ा रहता है कि मरीज़ क्या करे क्या न करे? इसी कारण तो वह त्रस्त होकर पुकार उठता है, "वैद्यराज नमस्तुभ्यम्......।"

ज़रा संजीदगी से सोचें तो मानना होगा कि प्रत्येक चिकित्सा-प्रणाली में कोई-न-कोई चीज़ बहुत अच्छी है। चूँकि हमारा किसी एक विज्ञान पर यक़ीन है इसलिए हम बाकी सब को वाहियात समझें तो हमारी ग़लती है। ऐसा दुराग्रह हमें कभी नहीं रखना चाहिए।

इसी रुचि या पसन्दगी के बल पर फिर हम लोगों में ऊँच-नीच का भेद करने लगते हैं। अगर कोई जो अंग्रेजी जानता है, अंग्रेज़ी न जानने वाले को बेपढ़ा या गँवार समझने लगे तो कितना बड़ा अन्याय है? अगर मैंने शेक्सपियर पढ़ा होगा तो कई विद्वान ऐसे हैं जो अंग्रेज़ी का एक लफ़्ज़ नहीं जानते लेकिन कालीदास के संस्कृत नाटकों का मज़े के साथ रसास्वादन करते हैं, जहाँ मैं उस कविकुल-गुरु के दो श्लोकों का सही

अर्थ लगाने में गड़बड़ा जाता हूँ। जो ब्राह्मण कुल में जनमते हैं, वे समझते हैं कि नीच शूद्रों की छाया पर उनका पैर भी नहीं पड़ना चाहिए। माना कि एक ज़माना था जब ब्राह्मणों ने संस्कृति और ज्ञान की ज्योति को जगाया और आज भी शायद कुछ ब्राह्मण शुद्ध सात्विक प्रवृत्ति के मिलेंगे। लेकिन सिर्फ़ इसलिए आप शूद्र के महत्व से इनकार नहीं कर सकते। कल अगर मेहतरों की हड़ताल हो जाय तो तमाम शहर में इस तरह गन्दगी और रोग-राई फैल जाय जो ब्राह्मणों की सन्ध्या और जप से रोकी नहीं जा सकती। ठीक उसी प्रकार यदि दुनिया में ज्ञान और चिन्तन को जगाने वाले व्यक्ति न रहें, जो कि ब्राह्मण का धर्म है, तो समाज पतनोन्मुख होकर पशुवत हो जाय। गरज़े कि समाज व्यवस्था के लिए यदि ब्राह्मण आवश्यक अंग हैं तो शूद्र भी उतने ही आवश्यक हैं—न कम न बेशी। इसमें चूँकि सब मनुष्य हैं, किसी को ऊँचा या नीचा मान लेना ठीक नहीं। दोनों अपना-अपना कर्म करते हैं इसलिए हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

सिंह और चूहे की कहानी मशहूर है। चूहा सोये हुए सिंह के बदन पर खेल रहा था। सिंह की नींद खुल गयी और उसने चूहे को अपने पंजे में पकड़ कर मार डालने का इरादा किया। चूहा गिड़गिड़ाकर बोला, 'नहीं मुझे मत मारो। मुमकिन है किसी दिन मैं तुम्हारे काम आ सकूँ।' सिंह घमण्ड से बोला, 'छिः तू क्या मेरे काम आयेगा? मैं जंगल का राजा ठहरा और तू है ज़रा सी जान। ख़ैर मैं रहम खाकर छोड़ देता हूँ, अब ऐसा मत करना।' इत्तफ़ाक की बात है कि वही सिंह किसी शिकारी के जाल में फँस गया और चूहे ने अपने पैने दाँतों से जाल की रस्सियाँ काटकर उसे मुक्त कर दिया। सिंह जंगल का राजा था फिर भी चूहा जो काम कर सका, वह ख़ुद सिंह नहीं कर सका। छोटी दीखने वाली चीज़ों का भी महत्व होता है।

अपना-अपना चश्मा

अंग्रेज़ी में लांगफेलो की बड़ी सुन्दर कविता है जिसका शीर्षक है—'पहाड़ और गिलहरी' (The mountain and squirrel) पहाड़ ने अपनी तारीफ़ के पुल बाँध दिये कि मैं बादलों को रोक सकता हूँ, मेह बरसाता हूँ, अपनी पीठ पर जंगल लगाता हूँ। गिलहरी ने जवाब दिया कि हाँ यह सब ठीक है। यदि मैं अपनी पीठ पर ज़ंगल नहीं ले जा सकती तो तुम भी तो एक सुपारी नहीं फोड़ सकते। हर एक चीज़ का अपना मूल्य होता है। सबको एक ही पैमाने से नापना ग़लत है।

हमारे मत, हमारे विचार, हमारा आचरण सही है और दूसरों का ग़लत है, इस ख़याल के लिए भी इसी प्रकार की विचार प्रणाली ज़िम्मेदार है। जो हमने देखा वही ठीक है और दूसरी बात हो ही नहीं सकती, ऐसा आग्रह रखना बुद्धिमानी नहीं है। हर एक सवाल के कई पहलू होते हैं और यदि हम उसे अच्छी तरह हल करना चाहते हैं तो हमें सब पहलुओं पर विचार करना चाहिए। सिर्फ़ एक ही बाजू पर गौर कर के हम उसकी तह में नहीं पहुँच सकते। एक बार छः अन्धे आदमी, जो साथ-साथ जा रहे थे, एक हाथी से टकरा गये। वे थे तो जनम के अन्धे, लेकिन जो सुना था उसके बल पर उन्होंने अन्दाज़ किया और सही अन्दाज़ किया कि यह हाथी है। एक आदमी जिसका हाथ उसके कान पर पड़ा, बोल उठा, 'अरे यह हाथी तो सूप जैसा है।' दूसरे का हाथ उसकी पूँछ पर पड़ा और वह चिल्ला उठा, 'अरे यह हाथी तो रस्से के समान है।' एक का हाथ उसकी पीठ पर पड़ा, वह बोला, 'नहीं, यह तो दीवार की तरह है।' फिर और एक का हाथ उसके पैर से छू गया तो बोला, 'नहीं नहीं भाई, यह तो खम्भे के समान है।' इस प्रकार जिसको जो अनुभव हुआ उसी के मुताबिक उसने अपनी राय कायम की और उनका आपस में वाद-विवाद होने लगा। हर एक ने उस हाथी को एक ख़ास पहलू से देखा और अनुमान किया कि उसी का कहना सच है। असल बात तो यह है कि उन

सब का कहना एक हद तक सच था, और एक हद तक ग़लत। उन सब के अनुमानों का जोड़ तथा और भी बातों का समावेश उस हाथी नाम के प्राणी में होता था। वे सब आंशिक रूप में सही थे, लेकिन सिर्फ़ आंशिक रूप में ही। सही तो वह आँखों वाला आदमी हो सकता है जिसने हाथी को सब बाजुओं से देखी हो और फिर अपनी राय क़ायम की हो।

हम सब कम या अधिक प्रमाण में इन अन्धे आदमियों की तरह हैं। किसी चीज़ को एक ख़ास नुक्ते-नज़र से देख लेते हैं और फिर दावा करने लगते हैं कि बस हमीं एक ठीक हैं बाकी सब ग़लती पर हैं। लेकिन हर सवाल के दो पहलू तो होते ही हैं। बुद्धिमानी इसी में है कि उन दोनों बाजुओं को बराबर तौल कर जो वाजिब बात है वह की जाय, उसी में भलाई भी है। अगर ऐसा नहीं करते तो न जाने कितना झगड़ा, कितनी कटुता और मनोमालिन्य पैदा होता है।

कुछ सिपाही जो छुट्टी पर थे, घूमते-घूमते एक पुराने किले के खण्डहरों को देख रहे थे। एक सँकरे दरवाज़े पर पत्थर की कमान थी जिसके बीचोबीच ढाल जैसी सुन्दर शिला थी। उस सँकरे रास्ते में से एक बार एक ही आदमी निकल सकता था। मौक़े की बात है कि उसी वक्त दोनों दिशाओं से यानी एक दूसरे के आमने-सामने से दो सिपाही आये और चूँकि रास्ता सँकरा था, वे दोनों सहम गये—ठहर गये। उन दोनों की नज़र एक ही साथ ऊपर की उस ढाल जैसी शिला पर पड़ी। एक बोला, 'ओ हो, वह देखो उस पर कमल का कितना अच्छा चित्र बनाया गया है।'

दूसरे सिपाही ने उसे निहारते हुए कहा, "कमल का ? छिः वह कमल थोड़े ही है ? वह तो तलवार है।"

पहला बोल उठा, "नहीं जी, वह कमल साफ़ तो दीख रहा है—वह देखो, उसका डंठल, और पत्र।"

दूसरा झल्ला उठा, "अरे अन्धे तो नहीं हो गये ? वह तलवार, उसकी वह कमान और नोक, साफ़ नहीं दिखती ?"

पहला गुस्से से बोला, "अन्धे तो तुम हो......"

इसी तरह गाली गलौज होने लगी, जब गुस्सा इतने पर भी न रुका तो दोनों ने अपनी-अपनी म्यान में से तलवार खींच ली और लगे वहीं लड़ने। नतीजा यह हुआ कि दोनों ही जख़्मी हो गये और दोनों ही उस दरवाज़े की देहरी पर आर-पार लुढ़क पड़े। जब वे इस हालत में थे तब उन दोनों की नज़र उस शिला की दूसरी बाजू की ओर गयी तो उन्होंने देखा कि वे दोनों ही सही थे क्योंकि उसके एक तरफ़ कमल था और दूसरी तरफ़ तलवार। दोनों ही पछताये कि पहले ही वे दूसरी बाजू देख लेते तो इतनी ख़ून-ख़राबी क्यों होती ? लेकिन यह अक्ल उन्हें काफ़ी देर से आयी।

इस दोष के कारण अर्थात् किसी सवाल के दूसरे पहलू की तरफ़ न देखने के कारण हम रोज़मर्रा के जीवन में तकलीफ़ उठाते हैं। हाँ, इन सिपाहियों की तरह हम तलवार तो नहीं चलाते, लेकिन हमारे हाथ में इससे भी बुरे शस्त्र हैं यानी ज़बान और क़लम। उसे चलाने में बिलकुल नहीं चूकते। उन सिपाहियों की लड़ाई में तो सिर्फ़ दो का ही नुकसान हुआ, लेकिन हमारी ज़बान और क़लम की लड़ाई में तो न जाने कितनी कटुता, गन्दगी और घृणा फैलती है। राजनैतिक तू-तू, मैं-मैं में यह बात आमतौर पर देखी जाती है। हम जिस पालिसी को मानते हैं वही ठीक है, इस धारणा से प्रेरित होकर हम दूसरी पार्टी के लोगों को कोसते हैं, नीचा दिखाते हैं, उनपर भले-बुरे आरोप लगाते हैं। इलेक्शनबाज़ी के बुख़ार से कैसा भयंकर और गन्दा वातावरण पैदा होता है यह सब जानते हैं। जो वृत्ति राजनैतिक क्षेत्र में है, वही सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में भी है।

इसको हम रोक सकें तो बड़ा कल्याण हो। समाज के विविध अंग हैं,

उन सब की सेवा, लोग अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के मुताबिक करते हैं, उसकी हमें दाद देनी चाहिए। इसमें ऊँचे-नीचे का भाव क्यों? गांधी जी और माननीय श्रीनिवास शास्त्री की मित्रता हमारे देश के वर्तमान इतिहास की एक अजीब घटना है। शास्त्री जी को गांधी जी का तरीक़ा बिलकुल पसन्द नहीं था और न गांधी जी को शास्त्री जी का। फिर भी दोनों अनन्य मित्र थे, क्योंकि वे एक-दूसरे को समझते थे और एक-दूसरे की सच्चाई पर विश्वास करते थे। मतभेद की इतनी गहरी खाई उनके आपस के प्रेम और सद्भाव के आड़े नहीं आ सकी। क्यों न हम सब उनका आदर्श ग्रहण करें? भले ही हम कांग्रेसी हों या हिन्दू सभावादी या मुस्लिम लीगी या समाजवादी या क्रान्तिवादी या अराजकवादी। महज़ इसीलिए कि हम अलग-अलग क़तार में बैठे हैं, हमें दूसरों को दुश्मन नहीं समझना चाहिए। अपने-अपने दायरे में हर एक का महत्व है और हमें यह मान कर चलना चाहिए कि वे अपने विचारों के प्रति ईमानदार हैं। अगर वे गुमराह हैं तो उन्हें अपने कामों से और चरित्र से, न कि कड़वे शब्दों से सही रास्ते पर लाने की उम्मीद करनी चाहिए! जहाँ तक हो उनकी बाज़ू भी हमें देखनी चाहिए। हम अपनी श्रद्धा और विचारों के प्रति पक्के रहें और उसी के मुताबिक आचरण भी करें तो देखेंगे कि गन्दगी और कटुता का बवण्डर शीघ्र ही शान्त हो जायगा। जो असर पड़ता है वह कृति का पड़ता है, वाणी का नहीं।

नौकरों की मुसीबत

●

आज सुबह से ही श्रीमती वर्मा बड़ी परेशान हैं। क्या करें, क्या न करें, सूझ नहीं पड़ता। रविवार का दिन समझ कर आज ही चाय-पार्टी का आयोजन किया। चार परिवारों के श्री-श्रीमतियों को निमंत्रित किया था, जिनमें रेडियो स्टेशन के सहायक संचालक भी थे। उन्होंने 'नारी-निकेतन' में उनकी पाँच मिनट की एक 'टॉक' रख दी थी, जिसका विषय था—'गृह संचालन में स्वावलंबन।' इसमें श्रीमती वर्मा ने ज़ोर देकर बताया था कि बिना नौकरों पर अवलम्बित रहे घर की व्यवस्था कैसी रखी जानी चाहिए। इसकी सारी सामग्री उन्हें 'महिला' मासिक के एक लेख में बनी बनायी मिल गयी थी।

पर आज उनकी सबसे बड़ी परेशानी का कारण यही था कि सुबह नौ बजे तक उनका नौकर भैरोलाल नहीं आया था, और नौ बजे बाद जो आया तब वह स्वयं नहीं, पर उसका यह संदेसा था कि आज उसके मामू का देहान्त हो जाने के कारण वह काम पर हाज़िर न हो सकेगा। यों

भैरोलाल का परिवार बहुत बड़ा मालूम पड़ता है, क्योंकि हर सात-आठ दिन में कोई-न-कोई रिश्तेदार बेचारा गुज़र ही जाता, और उसकी मैयत में जाने के कारण श्रीमती वर्मा से छुट्टी लेनी पड़ती। एक बार गुस्से में आकर उन्होंने उससे कह भी डाला—"तू ख़ुद क्यों नहीं अपनी 'मैयत' में एक बार चला जाता।" पर भैरोलाल शायद रामायण-गीता के वचनामृत पढ़ता था, इसीलिए जवाब में केवल इतना ही बोला—"हाँ मालकिन, एक बार तो उसमें भी जाना होगा।"

पर आज रेडियो वालों के निमंत्रण के कारण बिना नौकर के उनका काम चलना एकदम मुश्किल था। सारा दिन हर किसी पर गरजती रहीं और चूल्हे के पास झुलसती रहीं, और जब साड़ी बदल कर और स्नो-पाउडर लगाकर पार्टी में शरीक होने आयीं तब सारे वक्त नौकरों का रोना ही रोती रहीं। मेहमानों ने खाने के पदार्थों की बड़ी तारीफ़ की और बार-बार बात बदलने की कोशिश की, लेकिन श्रीमती वर्मा को भैरोंलाल और उसकी जाति के घरेलू नौकरों के सिवा कोई बात नहीं सूझती थी। "क्या करें, आज कम्बख़्त हमारा नौकर नहीं आया"...इस वाक्य का जप जैसे १०८ गुरियों की माला के साथ होता रहा। स्वागत में यही वाक्य, तो विदाई के वक्त भी यही वाक्य। उनके पति भी हैरान थे और मेहमान भी।

उस दिन श्रीमती वर्मा का 'मूड' ज़रा ख़राब था, वरना उन्हें इस मज़ेदार परिस्थिति से हँसी आये बिना नहीं रहती कि आज जो गृहणी भैरोलाल की गैरहाज़िरी से इतनी त्रस्त हो गयी थी, उसने रेडियो की वार्ता में कितने ठाठ से कहा था कि गृहणियों को सारा काम अपने-आप ही करना चाहिए, नौकरों के भरोसे बिलकुल नहीं रहना चाहिए, स्वास्थ्य तथा सौंदर्य का तथा किफ़ायती जीवन का यही रामबाण उपाय है, आदि-आदि।

भैरोलाल सचमुच बड़े काम का आदमी रहा होगा, वरना श्रीमती वर्मा

उसकी ग़ैरहाज़िरी को इतना महसूस न करतीं। वह जब आता है तब दरअसल उन्हें कुर्सी पर बैठकर मुँह चलाने के सिवा कोई काम नहीं रहता। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही था कि आज उसके न आने से उन्हें अपना मुँह और हाथ-पैर दोनों चलाने पड़े।

यह नौकरों की संस्था बड़ी पुरानी मालूम पड़ती है। भृत्य, नौकर, दास-दासी—कई तरह के इनके नाम हैं, और काम यही कि अपने ही जैसे दो हाथ-पैर वाले प्राणी की सेवा करना और उससे तनख़्वाह या अन्न-वस्त्र पाकर अपनी जीविका चलाना। साधारण बातों को गम्भीर स्वरूप देकर वर्णन करनेवाले लोगों की राय में यह संस्था पूँजीवादी समाज की पैदाइश है, जिसकी भित्ति घोर शोषण-वृत्ति पर आधारित है और जिसका विनाश भयंकर क्रान्ति के बिना सम्भव नहीं।

बड़े-बड़े शब्दों से तो डर लगता है और अपनी जैसी साधारण बुद्धिवालों को समझने में थोड़ी कठिनाई भी मालूम पड़ती है। मनुष्य का नौकरों पर अवलम्बित रहना छूट जाय तो उसके बहुत से दुख ही दूर हो जायँ, इसमें शक नहीं। नौकरों की ही क्या बात, अन्य बातों में भी परावलम्बन छूट जाय और प्रत्येक का जीवन आत्म निर्भर हो जाय तो उसके सुख और शान्ति की सीमा नहीं। इससे सम्पूर्ण मुक्ति न भी मिले, पर जितने अधिक परिमाण में वह मिलेगी उतने ही अधिक परिमाण में हमें सुख मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।

यदि स्वयं श्रीमती वर्मा को भोजन और पकवान बनाने का अभ्यास रहता और उनके पति में तथा उनमें सहयोग की यह भावना रहती कि अपने घर का सब-कुछ काम करने में कोई तौहीन नहीं है या फिर श्रीमती वर्मा का अपने पास-पड़ोस के लोगों से इतना घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध होता कि वे किसी को भी सहायता के लिए निस्संकोच बुला सकतीं तो उस दिन की उनकी सारी परेशानी मिट जाती।

मुझे अपने बचपन के ऐसे ग्राम-भोजन याद हैं जिनमें गाँव भर के स्त्री-पुरुष मिलकर लीपा-पोती से लेकर खाना बनाने और बर्तन-भाँडे साफ़ करने तक के कामों में शरीक होते और हँसते-खेलते दिन बिता देते। जिस किसी के यहाँ भी सह-भोज हुआ या कोई कथा या विवाह-कार्य हुआ कि अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियाँ उसे अपना काम समझकर सहारा देने दौड़ पड़तीं—सच्चे दिल से, दिखावे के लिए नहीं।

पर आजकल हमारी जीवन-प्रणाली ही कुछ अलग बन गयी है। श्रीमती वर्मा की ही बात क्या कहें, घर-घर में आज यही दीख रहा है। हम छोटे-छोटे घरौंदों में बँटते और अपने आस-पास सँकरी दीवारें खड़ी करते जा रहे हैं। जब श्रीमती वर्मा ने किसी के काम-काज या सुख-दुख में कोई साथ ही न दिया हो तो वह भी बेचारी किसी को किस मुँह से बुलाएँ? सौभाग्य से पति की तनख़्वाह अच्छी है, नौकर-चाकर रखे जा सकते हैं और अगर किसी दिन भैरोलाल नहीं आया तो होटल से खाना तो आ ही सकता है। इसमें परेशानी होती है, ख़र्च भी अधिक होता है। आहार और आराम तो मिलता है, पर सच्चा सुख नहीं मिल पाता और एक अस्पष्ट अशांति-सी जीवन में छायी रहती है।

नौकर लोग भी आख़िर ताड़ ही जाते हैं कि जब उन पर इतना अवलम्बित रहा जाता है और उनके बग़ैर काम ही नहीं चलता, तब लो चलो, मारो हाथ, जितना बने लेते चलो। मालिक और मालकिन की ग़ैरहाज़िरी में उन्हीं की कप-तश्तरी में चाय पीना, पान-तमाखू खाना, साबुन तेल लगाना, उनके दौरे पर जाने के बाद उन्हीं के पलंग पर मसहरी लगाकर शान से सोना, घी-शक्कर का बड़े प्रेम से उपयोग करना—ये सब बातें रोज़मर्रा के अनुभव की हैं। जो मालिक नौकरों पर अधिकाधिक आश्रित रहते हैं, उन्हें ये सब बातें बर्दाश्त करनी पड़ती हैं और नौकर

भी यह बात देखकर हाथ-पैर पसारने लगते हैं। पर साबुन-तेल से हमेशा नौकरों का फ़ायदा ही होता है, सो बात नहीं। एक बार ऐसी ही मज़ेदार घटना हुई—

मेरे एक दूर के रिश्तेदार अच्छे सरकारी ओहदे पर थे। ज़रा चलते पुरज़े भी थे। वह जब कचहरी चले जाते तब उनके नौकर महोदय उन्हीं के बाथरूम में तेल और साबुन का उदारतापूर्वक व्यवहार करके "किस्सा तोता मैना" के गीत गाते हुए 'अश्नान' करते। साहब ने यह देखकर एक दिन किसी विशिष्ट प्रकार का तेल और साबुन लाकर रख दिया। जब श्रीमान नौकरजी ने तेल लगाया तब देखा कि आज बाल न जाने क्यों कमज़ोर होकर उखड़-उखड़ रहे हैं। ख़ैर, जो बात हो। जब साबुन लगा कर सिर धोने लगे तब देखा कि बालों के बड़े-बड़े गुच्छे हाथ में आने लगे। बड़े घबराये! कहीं 'भूत-पिशाच' तो नहीं छू गया! जैसे-तैसे नहाकर आइने में देखा तो सिर में कहीं घुटी चाँद तो कहीं झाड़-झुरमुट। फ़ौरन बाज़ार जाकर नाई से पूरा सिर घुटवा लिया और टोपी पहनकर मालिक के स्वागत के लिए तैयार हो गये। साहब ने कचहरी से लौटने पर पूछा :

"क्यों शिवशरण, आज ये बाल क्यों कटवा लिये?"

"हुज़ूर, देस से कारड आया था कि मेरे दादा का स्वरगवास हो गया।" मालिक मन-ही-मन हँसे। पर इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरे दिन से नौकर का बाथरूम में नहाना बन्द हो गया।

पर सभी नौकर इस प्रकार चतुर नहीं होते। कोई तो चले आते हैं नौकरी की तलाश में, किसी तरह पेट भरने। देश में जोरू छोड़ आते हैं और साथ में एक डंडा ले आते हैं। समझदारी से ज़्यादा सम्बन्ध नहीं रखते। उनकी सबसे सजीव और ज़ोरदार इन्द्रिय रहती है—पेट। बस उसी दृष्टिकोण से वे सब कुछ देखते हैं। बहुत बात चल पड़ी तो वे

प्रामाणिकता से कह देते हैं—"हुज़ूर हमें अक्किल-वक्किल कहाँ ? हम कौन कोई इलम पढ़े हैं !" ऐसे नौकरों की भोजन बनाने में और उससे भी अधिक खाने में ही रूचि रहती है। तेल-साबुन से उन्हें कोई वाकफ़ियत नहीं रहती। ऐसे ही एक नौकर का किस्सा मेरे एक जज मित्र ने सुनाया—

एक रोज़ कचहरी जाने के पहले उन्होंने नौकर को बुलाकर कहा—"देखो गंगापरशाद ! हम जहाँ नहाते हैं न........"

"जी हाँ !" इतने ज़ोर से सिर हिला कि मालूम हुआ, बात समझ में आ गयी।

"वहाँ हम रूमाल छोड़ जायँगे, उसे धो डालना, भला ? वहाँ दो साबुन रखे हैं। एक है सफ़ेद और एक है लाल।" (ज़ाहिर है कि जज साहब बदन के लिए पियर्स और कपड़े धोने के लिए सनलाईट साबुन का इस्तेमाल किया करते थे।) "तो लाल से मत धोना, सफेद से धोना। समझ गये या नहीं ?"

"हाँ साहिब, इतना तो ज़रूर समझ गया।"

"बस तो ठीक है।" यह कहकर साहब पतलून चढ़ाकर अदालत चले गये। वह रूमाल बाथरूम में रखना भूल गये या नहीं, इसका उन्हें स्मरण नहीं। पर जब चार बजे दफ़्तर से लौटे तब पण्डित गंगापरशादजी ने पियर्स साबुन की बट्टी दिखाते हुए, जो खिड़की के काँच की तरह पतली हो गयी थी, कहा—"साहिब, बस इससे साफ़ नहीं हो सकती। हम बहुत रगड़-रगड़ के धोये...

"अरे क्या धोये ? अपना सिर ?"

"नहीं हुजूर, हम गंगा कसम खाकर कहते हैं यदि हमने सिर को साबुन लगाया हो तो। हम तो जोन लाल रंग का साबुन रहा तौन धोते रहे, और वही सफ़ेद साबुन जौन आप बताये रहे वही हम इसे रगड़-

रगड़ के लगाये रहे। रंग कुछ फीका तो हुआ पर एकदम चूने की तरह सफ़ेद नहीं हो पाया साहिब।"

साहब ने सिर पर हाथ मारकर कहा—"धन्य हो गंगापरशाद ! पर सफ़ेद साबुन लगाकर लाल साबुन धोने के लिए तुमसे किसने कहा था ? हम तो रूमाल धोने के लिए कह गये थे।"

"रूमाल हमें नहानी-घर में नहीं मिला मालिक ! गंगा कसम..."

जज साहब को हँसी आ गयी। ज़रा साहित्यिक प्रवृत्ति के आदमी थे, इसलिए उस हँसी में पियर्स साबुन के धुल जाने से चन्द आने का जो नुकसान हुआ, उसे भूल गये।

ऐसे नौकरों को रखने से खाने-पीने का बजट भले ही बढ़ जाता हो, पर और कोई नुकसान नहीं हो पाता। पियर्स साबुन का नुकसान तो महज़ एक 'एक्सिडेंट' है, जो अक्सर हो जाया करता है। मालिक का एक महीने का 'राशन' इनके लिए एक सप्ताह के लिए ही पूरा होता है। ऐसा लगता है जैसे हाथी पाल रहे हों, पर एक बड़ी सुविधा भी रहती है। क्योंकि उनकी नौकरी में खाना बनाने के साथ खाना खाने की भी शर्त रहती है, वे श्रीमती वर्मा के भैरोलाल की तरह बार-बार छुट्टी नहीं लेते। उन्हें रात में १०४ डिगरी का बुख़ार भी हो जाय तब भी सुबह ड्यूटी पर हाज़िर रहते हैं। भोजन-प्रिय होने के कारण वे सचमुच "अन्नं ब्रह्मम्" के मूल तत्व के पुजारी होते हैं। एक दिन काम पर नहीं गये तो खायँगे क्या ? इस लिए न ग़ैरहाज़िर रहते हैं और न खाना बनाने में कोई बेगार टालते हैं। लेकिन इसके अलावा कोई दूसरा काम उन्हें मत बताइए, वरना गाड़ी तक चूक जाने का मौक़ा आ सकता है, सो इस प्रकार—

बात उन दिनों की है जब दूसरा महायुद्ध चल रहा था और रेलगाड़ियाँ घंटों लेट आया करती थीं। एक छोटे ज़िले की बात है जहाँ

टेलीफ़ोन नहीं था। साहब को मेल से जाना था और वह तीन घंटे लेट थी। स्टेशन पर मक्खी मारते बैठे रहने से क्या फ़ायदा! सो उन्होंने अपने पाक-कर्ता महोदय को बुलाकर कहा—"देखो ब्रजभूषण। तुम स्टेशन चले जाओ और ज्योंही गाड़ी अगले स्टेशन से छूट जाय, फ़ौरन आकर हमें इत्तला दो। समझ गये?"

"हाँ साहिब!" कहकर ब्रजभूषणजी ने इतनी ज़ोर से सिर हिलाया कि काम ठीक हो जायगा इसका भरोसा हो गया।

अगले स्टेशन से यहाँ तक गाड़ी आने में पैंतीस मिनट लगते थे। इतने में स्टेशन बड़ी आसानी से पहुँचा जा सकता था। मालिक राह देखते रहे, पर ब्रजभूषणजी डेढ़ घंटे में लौटकर बोले—"हाँ साहब, गाड़ी छूट गयी।"

"शाबास! बड़े होशियार हो। जाओ, ड्राइवर से गाड़ी लाने के लिए कहो।"

बीस मिनट के भीतर ही गाड़ी साहब को लेकर वापस स्टेशन से लौटी। साहब गुस्से में बोले—"क्यों जी, तुमने ऐसे कैसे ख़बर दी? गाड़ी तो आध घंटे पहले ही छूट गयी। अब जाने से फ़ायदा?"

"हाँ साहिब छूट तो जरूर गयी होगी। हम खुद अपनी आँखों से देख आये थे। हमारे सामने गाड़ी स्टेशन पर आयी और जब लौं वह ठाड़ी रही तब लौं हम उसे बराबर देखत रहे। और जब वह छूट गयी तब फ़ौरन आयके आपको खबर दीन्ह।"

साहब अवाक् रह गये। फ़ौरन तार दिया कि गाड़ी छूट जाने के कारण नहीं आ सके और कान पकड़ लिया कि पंडित ब्रजभूषण से खाना बनाने के सिवा अब और कोई काम नहीं लेंगे।

एक बार ऐसा हुआ कि परिवार के लोग रिश्तेदारी में दूसरे गाँव

चले गये तो मैं अकेला रह गया। होटल से खाना आया करता था। एक रविवार को खाने में 'चेंज' हो जाय, इस गरज़ से एक मित्र के यहाँ संदेसा भिजवाया कि मैं शाम को उन्हीं के यहाँ भोजन करने आऊँगा। मेरा नौकर हाल ही 'देस' से आया था और शहर की भाषा और बोलचाल में अभी प्रवीणता नहीं प्राप्त कर पाया था। फिर भी मैंने अपने ख़याल में उसे मित्र के मकान का पता, उसका हुलिया, सब कुछ अच्छी तरह समझा दिया। उसे एक बार दुहरा भी दिया। नौकर एक घंटे में लौटकर बता भी गया कि संदेसा दे आया है। मैं एक पत्र लिख रहा था, आधे ध्यान से पूछा—"क्या दे आये ?"

"खाने का बता आया हूँ, मालिक।"

"बहुत अच्छा," मैंने कहा।

शाम को जब मैं अपने मित्र के मकान पर जा रहा था तो वह मुझे छड़ी घुमाते हुए रास्ते में ही मिल गये—नहा-धोकर, साफ़ सुथरे!

"अरे भाई, कहाँ जा रहे हो ?" मैंने पूछा।

"वाह, अजीब सवाल है ? मैं तो तुम्हारे ही यहाँ खाना खाने जा रहा हूँ।" मित्र ने कहा।

"ख़ूब ! मैं भी तो तुम्हारे ही यहाँ खाने के लिए जा रहा हूँ। नौकर के हाथ से सुबह संदेसा नहीं भिजवाया था।"

"उसने तो कहा कि आपको खाना खाने के लिए बुलाया है। मैंने सोचा, तुम 'हॉलिडे मूड' में होगे, ख़ुद ही खाना बनाया होगा और इसीलिए मुझे बुलाया होगा।"

"वाह रे नौकर।" मैंने कहा, "ख़ैर, अब दोनों जगह चूल्हा ठंडा है। चलो, 'क्षुधा शांति भोजनालय' में ही चलें और वहाँ नौकर महाशय की जय मनाकर भोजन ग्रहण करें।"

पर सब नौकर एक से नहीं होते, क्योंकि दुनिया में सब आदमी एक से

नहीं होते। कहीं नौकर शातिर बदमाश हैं तो कहीं मालिक ज़ालिम और शक्की। यों तो नौकर मालिक का झगड़ा सास-बहू या मकान मालिक-किरायदार के झगड़े की तरह शाश्वत है, सनातन है। दोनों एक दूसरे को 'श्वानवत् गुरगुरायते' की दृष्टि से देखते हैं। कई नौकर तो सिवा कामचोरी के और कुछ नहीं करेंगे। और कुछ ऐसे मालिक हैं जो हमेशा नौकरों पर गरजते ही रहते हैं। उनके साथ पशुवत बरताव करते हैं, और जब नौकर छोड़कर जाने लगता है तब इतने परेशान हो जाते हैं कि उसकी इन्तहा नहीं। फिर ख़ुशामद भी होने लगती है जिससे वह और भी सिर पर चढ़ने लगता है। इसीलिए आवश्यकता है एक-दूसरे को सँभाल लेने की। नौकर को भी आख़िर कहीं नौकरी करनी है और मालिक को भी किसी-न-किसी को रखना ही है। फिर क्यों न जो नौकर है उसीके साथ आदमी का सा व्यवहार करके उसीको ठीक से निभाया जाय। मनुष्य चाहता है थोड़ा सा सद्-व्यवहार—इस बात का ज्ञान कि आप उसे आदमी समझ रहे हैं। और फिर वह जान लगाकर आपका काम करेगा। इसके साथ-ही-साथ यदि उसे यह भी मालूम हो जाय कि उसके जाने से आपका काम रूकेगा नहीं तो वह आपकी 'पर्मानेण्ट सर्विस' का मेम्बर ही बन गया समझिए।

लेकिन हमेशा अच्छाई का बदला अच्छाई से ही मिलता है, ऐसा नहीं। मेरे यहाँ भोजन बनानेवाले एक पण्डितजी थे, लेकिन उनका दिमाग़ ज़रा ख़ाली था—यानी करीब-करीब बिलकुल ख़ाली। मिजाज़ भी चिड़चिड़ा था। पर ज़्यादा खटकने वाली बात यह थी कि वह अपने एक बेकार जातभाई के लिए घी, चाय, शक्कर भी हमारे यहीं से 'सप्लाई' किया करते थे। उन्हें सुधारने की बहुत कोशिश की और (How to handle human nature) 'मनुष्य स्वभाव के साथ कैसे बरतना चाहिए' नामक पुस्तक के कुछ नुस्ख़े भी अमल में लाये गये, पर उनपर कोई विशेष असर

नहीं पड़ा। यों नौकरों को-निभाने के बारे में मुहल्ले में मेरा 'रेप्युटेशन' कुछ बुरा नहीं है, फिर भी मैं इन पण्डितजी से हार गया—उनसे छुट्टी पाना चाहता था। एकदम 'निकल जाओ' कहने के लिए भी जी नहीं करता था।

इतने में एक दिन पण्डितजी बोले—"अगली शिवरात्रि को बड़े महादेव का मेला है। हमारे साथी जा रहे हैं। आप छुट्टी दे दें तो मैं भी जरा हो आऊँ।"

मध्यप्रदेश में यह वार्षिक मेला बड़ा मशहूर है। दो-दो सौ मील से यात्री पैदल चलकर मेले को जाते हैं; हालाँकि वहाँ पाँच-सात मील छोड़कर रेल या मोटर से भी जाया जाता है, पर श्रद्धालु यात्रियों की भावना है कि पैदल जाने से ही अधिक पुण्य मिलता है।

मैंने पण्डित जी से कहा..."हाँ, रामभरोस, ज़रूर हो आओ। पर रेलगाड़ी की अपेक्षा पैदल जाने में अधिक पुण्य है। जाना हो तो फिर पैदल ही जाना चाहिए।"

"हाँ मालिक, बड़ी नेक सलाह है। पर उसमें रास्ते में खाने-पीने का ख़र्च ज़्यादा लगेगा।"

"उसकी फ़िकर मत करो...मैं दे दूँगा। पर एक बात है। तुम्हारी ग़ैरहाजिरी में हमें दूसरा 'पण्डित' तो रखना ही पड़ेगा।"

मेले जाने और राह ख़र्च पाने के उत्साह में पण्डित रामभरोस बहुत दूर की नहीं सोच पाये। फ़ौरन बोले—"हाँ साहिब, सो तो करना ही होगा।"

रामभरोस अपने सात-आठ रसोइये साथियों के साथ महादेव की पैदल यात्रा पर निकल पड़ा। वहाँ सबने अपने-अपने मालिकों का गुण-अवगुण गाया होगा, जिसके फलस्वरूप शायद रामभरोस का मेरे बारे में मत सुधर गया मालूम पड़ता था, क्योंकि एक महीने के बाद जब वह

यात्रा से लौटा तब त्रिपुण्ड लगाये सीधा मेरे यहाँ आया और बोला साहिब, मेरी नौकरी ?

"अब तो हमने तुम्हारी जगह दूसरा पंडित रख लिया है रामभरोस,—और सो भी तुमसे पूछकर रखा है। इसलिए जब तक वह अगले वर्ष शिवरात्रि के मेले पर नहीं जाता है तब तक तो कोई गुंजाइश नहीं है।"

रामभरोस को निराशा तो हुई, पर मुँह से बोला—"हाँ साहिब, सो तो ठीक है !"

बाद में सुना कि रामभरोस ने तीन-चार जगह नौकरी की, पर कहीं भी पन्द्रह दिन से ज़्यादा नहीं टिका। आख़िर तंग आकर वापस 'देस' चला गया। मुझे किसी ने बताया कि जाते समय वह मेरे बारे में कह गया कि ' मालिक बड़े पुण्यात्मा हैं, धरम-करम का बड़ा ख़याल रखते हैं।"

मैंने सोचा, इस श्रेयस् का पाने का मैं अधिकारी नहीं हूँ, पर हाँ, एक अड़चन से तो छुट्टी ज़रूर पा गया। क्या बुरा है ?

सामने मेज़ पर नज़र गयी तो देखा...वही किताब पड़ी है.. "हाउ टु हैंडिल ह्यूमन नेचर।"

हाथी के दाँत

●

दरवाज़े की घंटी बजी। पता लगा कि कोई मिलने आया है। मैं अपने मित्र के यहाँ कार्यवश गया था। हम लोग चर्चा में मशगूल थे कि फिर वही घंटी बजी। मेरा मित्र इस विघ्न से ज़रा चिढ़ गया कि हमारे काम में बाधा डालने वाला यह कौन आ टपका। ऊपर खिड़की से झाँककर बोला—

"अरे, फिर वही 'दलिद्दर' आ गया। भगवान जाने इससे कब पिण्ड छूटे। ऐसा पीछे लगा है जैसे मैं इसके बाप का कर्ज़दार हूँ।"

लेकिन जब वह अभ्यागत, जो एक बीमा-एजेण्ट था, अन्दर आ गया, तो मेरा मित्र उसके स्वागत के लिए खड़ा होकर बोल उठा—

"आइए, आइए भाई साहब! बड़ा सौभाग्य जो आपके दर्शन हो गये! इतने दिन कहाँ थे भाई? नहीं दिखे, इसी का मतलब है, बरकत। चलो, बड़ी ख़ुशी की बात है—" आदि आदि।

मुझे अपने मित्र का यह नाटकीय परिवर्तन अद्भुत लगा। उसके पाखण्ड पर ज़रा गुस्सा भी आया, पर बाद में मुझे पता लगा कि इस बीमा-एजेण्ट का सबसे बड़ा भाई मेरे मित्र का उच्चाधिकारी है, जिसके हाथ में मेरे दोस्त की तरक्की-तबादला और 'कान्फिडेंशल-रिकार्ड' था। अपने भाई के 'प्रभाव' का उपयोग करके इस एजेण्ट ने दस-बीस लाख का 'बिज़नेस' पीट लिया था। उससे छुट्टी पा सकना किसी के लिए आसान नहीं था।

मुझे अपने मित्र की हालत समझ में आने लगी। इस दुनिया में अपने जैसा वह अकेला नहीं है। ऐसे कई लोग हैं, जिन्हें परिस्थिति के कारण कहिए या अपने स्वभाव की कमज़ोरी के कारण, अपने मन के विरुद्ध आचरण करना पड़ता है। दिल में एक बात होती है, ज़बान पर दूसरी। उमंग एक होती है, बर्ताव दूसरा। असली बात एक रहती है, दिखाने की दूसरी।

उसकी हालत ठीक हाथी की तरह होती है जिसके खाने के दाँत और होते हैं और दिखाने के और। दिखाने के दाँत शुभ्र होते हैं, सुन्दर होते हैं, उनसे शोभा की कतिपय वस्तुएँ बनती हैं—कंघे, सिन्दूर की डिबियाँ, ताजमहल! पर उन दाँतों से हाथी झाड़ की एक पत्ती भी नहीं चबा सकता और न रोटी का एक टुकड़ा। यदि भगवान ने उसे खाने के असली दाँत न दिये होते तो इतने बड़े हाथी को भूखों मर जाना पड़ता। शोभा बढ़ाने वाली वस्तु अलग होती है और असली जीवन देने वाली वस्तु अलग।

मेरा मित्र चाहता तो उस बीमा-एजेन्ट से कह सकता था कि वह काम में मशगूल है, वह अगले रविवार को या और किसी वक्त मिले और समय पहले से तय कर ले। बीमा करवाना उसे फ़ायदे का जँचे तो

करवाये, वरना उसे स्पष्ट किन्तु नम्र शब्दों में बता दे कि वह असमर्थ है। पर इसमें से कुछ भी मेरे मित्र ने नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि बेमतलब की गप-शप और चाय-पानी में हम लोगों का एक घंटा बर्बाद हो गया और बीमे की नंगी तलवार जो मेरे मित्र के सिर पर लटक रही थी, सो तो थी ही। इन सब बातों का परिणाम तो सबसे ज़्यादा उसी को भोगना पड़ा।

आजकल चारों ओर यही बात दिखायी पड़ती है। जीवन की सहजता और स्वाभाविकता मानो लोप हो गयी है और उसके स्थान पर आ गयी है घोर कृत्रिमता! अन्दर एक बात है और बाहर दूसरी। खरी बात सुनाने का दम सब भरते हैं, पर सुनाता कोई नहीं, क्योंकि इसका जो फल भोगना पड़ता है, उसकी तैयारी नहीं होती। इसलिए सारे समाज में एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गयी है।

एक चाय-पार्टी में दो प्रौढ़ महिलाएँ मिलीं। दोनों ने अपने उतरे हुए यौवन को छिपाने के लिए पाउडर और लिपस्टिक आदि का बेहद उपयोग किया था। उसी के अनुसार उनकी वेश-भूषा और आभूषण-शृंगार आदि भी था। मज़ा यह कि दोनों में से प्रत्येक दूसरी से अपने आप को बढ़-चढ़ कर बताने की कोशिश में थी। उनमें से एक ने कहा—

"कहिए मिसेज़ खन्ना! आपका यह नेकलेस तो बड़ा खूबसूरत है पर इसके मोती तो शायद नकली हैं......"

"जी हाँ, उतने ही नक़ली हैं जितने कि आपके दाँत।" तपाक् से जवाब मिला।

वह स्त्री झेंप गयी क्योंकि उसके दाँतों का सारा-का-सारा सेट दरअसल एकदम नक़ली था। उन स्त्रियों में से एक अपने धन का अभाव छिपाने

की कोशिश कर रही थी तो दूसरी अपने स्वास्थ्य का। और दोनों ही अपनी ढलती उम्र को अभिशाप मान कर उसपर पर्दा डालने का व्यर्थ अभिनय कर रही थीं।

यही बात और क्षेत्रों में भी दिखायी पड़ती है। जिस प्रकार गन्दी बदबूदार बनियाइन के ऊपर रेशम और कोसे के कपड़े पहने जाते हैं, उसी प्रकार बावर्ची के गन्दे बर्तनों में पकाये हुए पदार्थों को अच्छी से अच्छी प्लेटों पर फूलदान वाले मेज़ पर सजाकर सौन्दर्य का आभास निर्माण किया जाता है! पहली कृति में शरीर के अस्वास्थ्य का मसाला होता है तो दूसरी में पेट के। व्याधि निर्माण की सामग्री दोनों में है, पर उस ओर ध्यान देने की हमें फ़ुरसत कहाँ, वृत्ति कहाँ?

रोज़मर्रा के रहन-सहन में भी यही बात है। एक ने 'सोफ़ा-सेट, कालीन और एक ख़ास ढंग के परदे लिये तो औरों के सर पर भी वही ख़ब्त सवार हुआ समझिए। यदि ख़रीदने की सामर्थ्य नहीं है तो किराये पर यह सब फ़र्नीचर लिया जायगा। एक ने नेहरू की 'आत्मकथा' और चर्चिल के 'युद्ध संस्मरण' ख़रीदे तो औरों को भी वही अपने बुक-शेल्फ़ में रखना चाहिए! फिर परवाह नहीं यदि उसका एक भी पन्ना खोलकर न पढ़ा गया हो। सुनहरी जिल्द की किताब तो दिखाने के लिए होती है, पढ़ने के लिए नहीं। रेडियो स्टेशन पर गांधी की मूर्ति होना भी फ़ैशन में शुमार है—भले ही उनकी शिक्षा की हम दिन-दहाड़े चौबीसों घंटे हत्या करते हों। कई बार हम यह सब जान-बूझ कर नहीं करते। अनजाने नक़ल करने की हमारी आदत ही हमसे यह सब करा लेती है। हमारे पूर्वज बन्दर थे, इसकी नक़ल करते समय हम क़तई भूल जाते हैं कि हमारा सामर्थ्य या स्वभाव इसके लिए अनुकूल है या नहीं?

एक वकील साहब थे जिन्होंने बड़ी शोहरत कमायी थी। उनके

दफ़्तर में बड़ी-बड़ी काँच की आलमारियाँ थीं, जिनमें क़ानून की मोटी-मोटी किताबें, सुनहरी जिल्दों में बातरतीब जमा कर रखी गयी थीं। यह बात अलग थी कि इन आलमारियों का ताला कभी नहीं खुलता था। फ़र्राश आता और रोज़ ऊपर की धूल झाड़ कर चला जाता। वे किताबें केवल शोभा के लिए थीं। बाद में पता चला कि वे सभी कार्ड-बोर्ड की दिखाऊ किताबें थीं—अन्दर से पोली! जिस तरह हम काग़ज़ के फूलों से अपने ड्राइंगरूम की शोभा बढ़ाते हैं उसी तरह वकील साहब उन पुस्तकों से अपने दफ़्तर की शोभा बढ़ाते थे। देहाती मुवक्किलों पर रोब गाँठने का यह एक अच्छा तरीक़ा था।

सभा-सम्मेलनों में भी यही बात दिखायी पड़ती है। परिषद् के सभापति-पद के लिए, भले ही एक मामूली आदमी को चुनना पड़े क्योंकि आपकी फ़ेहरिस्त के पहले चार आदमी किसी-न-किसी कारण से इन्कार कर चुके हैं, पर आप को अपने भाषण में तो कुछ इसी प्रकार कहना होगा—

"हमारे लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि आज की परिषद के लिए प्रसिद्ध देशभक्त और जनसेवा व्रती, धुरन्धर वक्ता और प्रकाण्ड पण्डित श्री अमुक जी पधारे हैं, जिन्हें पाने के लिए हम गत वर्ष से प्रयत्नशील थे—इत्यादि इत्यादि चूँकि वे आज आपके उत्सव के सभापति हैं, आपके लिए वे सर्वगुण-सम्पन्न हैं, सम्भ्रान्त महिलाएँ उनके स्वागत में गीत गायेंगी, उन्हें फूल-मालाएँ पहनायी जायेंगी, और चन्दा काफ़ी इकट्ठा हो गया हो तो एक मानपत्र भी अर्पित किया जायगा। कल शायद आप इन्हें स्वार्थी, कालाबाज़ारी, रिश्वतख़ोर और नक़ली देशभक्त कहकर गाली देते थे, और सम्भवतः आज का समारोह हो जाने के बाद फिर वैसा ही करेंगे—पर इस समय नहीं।

राजनैतिक जीवन, साहित्य क्षेत्र, सामाजिक जीवन में—हर जगह यही प्रवृत्ति दिखायी देती है—असली बात को दोयम स्थान देकर दिखाने के दाँतों को सामने पेश करने की। शिष्टाचार के नाम पर कई असत्य और अतिरंजित बातों को प्रश्रय दिया जाता है। नक़ली और कृत्रिम मूल्यों का महत्व बढ़ गया है। किसी ने दो-एक कविताएँ लिखीं तो कवि-सम्राट हो गया, तीन-चार कहानियाँ लिखीं तो प्रतिभाशाली कथाकार हो गये। एकाध पुस्तक छप गयी तो फिर पूछना ही क्या है—साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद के लिए 'नये रक्त' (फ्रेश-ब्लड) की माँग होने लगी। एक बार धोखे से जेल चले गये तो एसेम्बली की मेम्बरी चाहिए ही, क्योंकि आपने कारावास की कठोर-काली दीवारों के अन्दर यम-यन्त्रणाएँ सहन की हैं। इन सब बातों में हम भूल जाते मैं कि इनमें असली तथ्य कितना है और दिखावा तथा आडम्बर कितना !

विद्यार्थियों का ही हाल देख लीजिए। साल भर सिनेमा और खेल-कूद से फ़ुरसत नहीं मिलती, इसलिए आख़िरी महीने में 'कुंजियाँ' और 'नोट्स' के सहारे अटलक-पच्चू पास होने की जी-जान से कोशिश होती है। परीक्षा की अगली रात को रट डाला, परीक्षा-पत्र में दूसरे दिन वह उगल डाला, और फिर बाद में कोरे-के-कोरे बने बैठे हैं। किस्मत अच्छी रही तो पास भी हो जाते हैं, डिगरी भी हासिल हो जाती है, पर असली ज्ञान के नाम पर सफ़ाचट ! यहाँ भी ऊपर की तस्वीर अलग। यह बात सभी विद्यार्थियों पर लागू नहीं होती पर इस प्रकार के काफ़ी छात्र आप को मिलेंगे।

इस प्रवृत्ति के कारण होता यह है कि एक प्रकार की कृत्रिम, छिछोर जीवन प्रणाली हमारे समाज में घर करती जा रही है। बाहरी दिखावे का प्रलोभन ज़्यादा है, आन्तरिक तथ्य का कम है। शादी-ब्याह करना हो तो भले ही कर्ज़ लेना पड़े, पर शामियाना, आतिशबाजी, पंगत-पार्टी,

बैण्ड बाजे में कोई कमी नहीं होगी, क्योंकि पुराना नाम जो रखना है। बाद में उसकी अदायगी में चाहे जायदाद चली जाय, पर इस वक्त तो कुँवर साहब की मूँछे इत्र से सनी उँगलियाँ ही ऐंठेंगी। शायद इन्हीं लोगों के लिए कहा गया है—"ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।" यानी कर्ज़ लेना पड़े तो हर्ज नहीं, पर घी खाने से मत चूको।

कल कुछ भी हो, आज तो वाहवाही में कोई कमी नहीं पड़नी चाहिए। लोगों को पाँच-पच्चीस बरस याद करनी पड़े कि शादी हुई तो कुँवर साहब के यहाँ की।

यह वाहवाही लूटने की हविश, कृत्रिम और नकली साधनों से सुख पाने की वृत्ति ही हमारे सारे दुखों का कारण है। यह यथार्थ में है तो मृगजल। उसके पीछे कितना भी भागो, उसमें तृप्ति नहीं, पानी का नाम नहीं। भाग्य में लिखा है केवल तड़पते-तड़पते मर जाना। पर पानी की आशा में बदहवास भागने में जो सुख है, वही उसका अपना है, और कुछ उसके हाथ नहीं लगना है।

इसी तरह का हाल हम सब का है। कस्तूरी की ख़ुशबू से पागल होकर कस्तूरी-मृग उसकी तलाश में भागा-भागा फिरता है—और है वह उसी के पास, उसी की नाभि में, पर अपने अज्ञान के कारण उसे देख नहीं पाता। किसी-न-किसी सुख के पीछे हम भागते रहते हैं। कोई डिगरी के पीछे पागल है तो कोई तरक्की के पीछे। कोई सोचता है कि मेरा मकान बन जाय या मुझे मोटर मिल जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ। कोई कहता है, रेशम या सैटिन के कपड़े खरीद सकूँ तो फिर मुझे संतोष होगा। दूसरे शब्दों में अपना सारा सुख हम बाह्य परिस्थिति पर अवलम्बित रख छोड़ते हैं। समुचित महत्त्वाकांक्षा होना बुरा नहीं है, पर उस महत्त्वाकांक्षा का रूप कोई आदर्श या आत्मोन्नति का तत्व न होकर भौतिक

और क्षणभंगुर वस्तुएँ हो जायँ, तो उससे सुख की बजाय दुख होता है। कोई तुलना ही करना चाहे तो इसका कोई अन्त नहीं। मकान बनवाने की इच्छा हो तो ऐसा कभी न बनवा सकेगा जो सबसे बढ़-चढ़ कर हो। मोटर में भी कई प्रकार के मॉडल होते हैं—तो हम कहाँ जाकर रुकें? कहीं-न-कहीं तो उसे सीमा बाँधनी ही होगी। और इस सीमा के आगे वह न जा सका, इसी का उसे दुख होगा।

इसके विपरीत यदि हम यह सोच लें कि हमारी क़ीमत हमारे पास क्या है, इसपर अवलम्बित नहीं है; पर हम क्या हैं इस पर है—तो बहुत सा झगड़ा मिट सकता है। मनुष्य संगमरमर के महल में रहे, पर उसके दिमाग़ और हृदय में पत्थर भरा हो और उसमें मानवता का निवास न हो तो फिर वह महल उसके लिए क्या कब्र जैसा नहीं है? मनुष्य की सारी सम्पत्ति और सौन्दर्य है उसकी मनुष्यता में—मानवता में। बाह्य और कृत्रिम आडम्बरों में तो उसका दम घुटने लगता है। इन आडम्बरों के पीछे की दौड़ यानी निन्यानबे का फेर! उससे कभी मुक्ति नहीं, छुट्टी नहीं, शांति नहीं और उसकी होड़ में कभी जीत नहीं। रॉक फ़ेलर, हेनरी फ़ोर्ड या हैदराबाद के निज़ाम के पास असीम सम्पत्ति के बाद भी क्या सुख और शान्ति है? यह तो उन्हीं से पूछा जा सकता है।

इसलिए हम यदि अपने सुख-साधनों और ध्येयों की दिशा बदल दें तो पायेंगे कि कस्तूरी की अमूल्य सम्पत्ति हमारे पास ही है, हमें उसके लिए दर-दर भटकने की ज़रूरत नहीं। यदि हम समझ लें कि हमारा सौन्दर्य स्नो और पाउडर में नहीं है, शरीर के स्वास्थ्य में है; हमारी योग्यता बुद्धि के विलास में नहीं, भावनाओं के वैभव में है, जिससे हम जीवन के सह-यात्रियों के साथ सहानुभूति और सहृदयता का बर्ताव कर सकें, हमारा सामाजिक बड़प्पन धन और बाहरी दिखावे में नहीं है, वरन् चरित्र की सादगी और सज्जनता में है; हमारे सुख और आनन्द की कुँजी

सिनेमा और नाटकों में नहीं है, हमारे मन के समाधान और शान्ति में है, तो हम देखेंगे कि हमारे जीवन में क्रान्ति ही हो गयी है। जिस व्यक्ति के घर में पति और पत्नी का पारस्परिक विश्वास और प्रीति हो, बच्चे किलकारियाँ मार रहे हों, समाधान और सन्तोष का मंगल दीप जलता हो, जिन्हें बाहरी दुनिया की कृत्रिम हाय-हाय दुख न पहुँचाती हो, जो अपने पड़ोसी के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध निभाते हों, जिन्हें—जो वे वास्तव में हैं—उससे अलग अपना स्वरूप दुनिया के सामने पेश करने की हविश नहीं; जो सूरदास की तरह मस्त होकर गा उठते हैं—"जैसे राखहु वैसेहि रहहुँ" उनके लिए अपना घर ही स्वर्ग है, भले ही उसमें टूटा फर्नीचर हो, खाने के लिए मेज़ और तश्तरियाँ न हों, कमख़ाब के पर्दे और क़ालीन न हों। एक झोंपड़ी में रहकर और लँगोटी लगाकर भी गान्धी ने इतना विश्वव्यापी वैभव पाया—वह कोई जादू या चमत्कार नहीं था। उसके पीछे एक तत्व था, अत्यन्त सीधा-सादा। वह था—अपने आप के प्रति सच्चे रहो। जैसे हो वैसे ही दुनिया के सामने पेश होओ। दिखावा और आडम्बर असत्य है, इसीलिए वह पाप है। उससे बचो। गांधी जी ने अपनी शिष्या मीरा बेन को एक पत्र में लिखा—

"मुझे सबसे ज़्यादा चिन्ता इसकी है कि तुम जैसी नहीं हो वैसी दिखाने की कोशिश न करो।"

दो हज़ार वर्ष पहले भी सुकरात ने यही शिक्षा दी थी—'अपने आप को जानो' और 'अपने प्रति सच्चे रहो।' भले हो तो, बुरे हो तो—जो हो सो रहो। दूसरों का अन्धानुकरण मत करो, नहीं तो हालत उस बन्दर जैसी हो जायगी जो एक आदमी की हजामत की नक़ल करते-करते उस्तरे से अपना गला ही काट बैठा।

दूर के ढोल सुहावने तो होते ही हैं, पर उनके अन्दर पोल भी होती है। उससे बचने के लिए यही अभीष्ट है कि जब कभी हाथी के

दर्शन हो जायँ तो दूर से उन्हें सादर प्रणाम करो और कहो कि जय महा गजराज की! आपके दाँत दिखने में तो बहुत सुन्दर हैं, और हो सके तो हम उसकी एकाध कंघी या बटन भी अपने पास रख लेंगे, लेकिन इसके बाद वे रहें आप ही को मुबारक! भगवान के लिए हमें उनके पीछे चलने का आदर्श न सिखाइए।

आनन्द की फुलझड़ियाँ

एक बूढ़ा आदमी, जिसके बाल सफ़ेद हो गये थे, ज़मीन खोद रहा था। एक नौजवान ने, जो वहाँ से गुज़र रहा था, उस बुज़ुर्ग को परिश्रम करते देख पूछा, "बाबा, यह क्या कर रहे हो ?"

"आम की गुठलियाँ बो रहा हूँ।" बूढ़े ने कहा।

"इस उम्र में ? इसके फल कब खाओगे, बाबा ?"

"मैं फल नहीं खा सकता तो क्या हुआ बेटा, तुम तो खा सकोगे ? मेरे-तुम्हारे नाती-पोते तो खायँगे ? देखो, वह अमराई मेरे दादा ने लगायी थी तो उसके फल मैंने खाये। इसके फल मेरे नाती-पोते खायेंगे।"

हमारे पूर्वजों की इसी मनोवृत्ति का फल है जो हम जगह-जगह अमराई देखते हैं। अपने स्वार्थी जीवन से ऊँचे उठकर दूसरों को सुख और आनन्द पहुँचाने का यह कैसा सुन्दर स्वभाव है। निस्संदेह उस बूढ़े का जीवन एक परम सात्विक आनन्द की दीप्ति से जगमगा उठा होगा और उसकी मृत्यु भी बहुत शांत और कष्टहीन हुई होगी। हम लोग सभी यदि

इस वृत्ति को हृदयंगम कर लें तो इस दुनिया में अधिक आनन्द की सृष्टि हो सकेगी, इसमें कोई शक नहीं। हमारा जीवन सच्चे सुख के प्रकाश से आलोकित हो उठेगा।

एक वृद्ध सम्भ्रांत महिला रेलगाड़ी से सफ़र कर रही थीं। वे खिड़की के पास बैठकर, बीच-बीच में, अपनी मुट्ठी से कुछ चीज़ बाहर फेंकती जा रही थीं। एक सहयात्री ने,जो यह देख रहा था, पूछा, "यह आप क्या कर रही हैं?" उस महिला ने जबाव दिया, "ये सुन्दर फलों और फूलों के बीज हैं। मैं इन्हें इस उम्मीद से फेंक रही हूँ कि इनमें से कुछ भी अगर जड़ पकड़ लेंगे तो लोगों का इससे कुछ फ़ायदा होगा। पता नहीं मैं इस रास्ते से फिर गुज़रूँ या न गुज़रूँ, इसलिए क्यों न मैं इस सन्धि का उपयोग कर लूँ?"

आजकल के ज़माने की रुपये और शिलिंग वाली स्वार्थी तहज़ीब के बावजूद दुनिया में ऐसे व्यक्ति हैं, इसीलिए तो दुनिया रहने लायक़ बनी है। भौतिकवाद और भोगविलास की हाय-हाय से परे रहने वाले निःस्वार्थी और आदर्शप्रिय लोग न होते तो हम कबके रसातल को पहुँच गये होते। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इस ज़माने के अन्धकार में भी आनन्द की फुलझड़ियों से प्रकाश फैलाते रहते हैं, जिन्हें देखकर हम मानव जाति के भविष्य पर श्रद्धा और विश्वास कर सकते हैं।

अमरीका के प्रेज़ीडेण्ट बेंजमिन फ्रैंकलीन के बारे में एक सुन्दर बात सुनी जाती है—उनके पास एक ग़रीब विद्यार्थी मदद माँगने के लिए आया। उसे उन्होंने २० डालर दिये। वे तो यह छोटी सी रक़म देकर भूल गये, लेकिन वह विद्यार्थी इस उपकार को न भूला। जब उसके दिन फिरे तब वह २० डालर लौटाने के लिए फ्रैकलीन के पास गया। फ्रैक-लीन ने कहा, "मुझे याद तो नहीं है कि मैंने यह रक़म आपको कब दी थी? लेकिन ख़ैर, आप इसे अपने ही पास रखिए और जब आपके पास

कोई ऐसा ही ज़रूरतमन्द आये तो उसे यह दे दीजिए।" उस व्यक्ति ने ऐसा ही किया। कहते हैं, आज भी वह रकम अमरीका में ज़रूरतमन्दों के हाथों में घूम रही है। कितनी अच्छी बात है!

रुपया कमाना सबके हाथ की बात नहीं है, न शिक्षा पाकर डिगरियाँ हासिल करना सब की पहुँच में है। लेकिन हम सब चाहें तो आनन्द और सुख की रश्मियाँ बिखेर कर दुनिया के दुख को कुछ-न-कुछ हलका जरूर कर सकते हैं, और जिन लोगों से हमारा सम्बन्ध है, उनके जीवन में कुछ-न-कुछ प्रसन्नता तो ज़रूर ही ला सकते हैं। लड़ाई, ग़रीबी, मँहगाई और ग़ुलामी से हमारा जीवन तो वैसे ही मुसीबतों से भरा पड़ा है। फिर भी हम उसमें कुछ सुख और आह्लाद फैलाकर ज़िन्दगी की लड़ाई को सहने लायक और जीवन को जीने लायक तो बना ही सकते हैं—बशर्ते कि हम उसका ज़रा ख़याल रखें। काम बिलकुल मुश्किल नहीं है। हमें सिर्फ़ ज़रा ध्यान देने की ज़रूरत है और उसका नतीजा? वह तो हम फ़ौरन देख सकेंगे। अगर जादू की लकड़ी की तरह असर न हुआ तो फिर कहिए।

अपने काम से एक बार बम्बई जा रहा था। लड़ाई के कारण कम्पनी ने गाड़ियों की संख्या कम कर दी थी इसलिए भीड़ ख़ूब रहती थी। टिकट लेने के लिए बाक़ायदा छीना-झपटी होती थी। खिड़की के पास भीड़ लगी हुई थी। टिकट बाबू बेचारे परेशानी से टिकट बनाते जाते थे लेकिन उस छोटी-सी खिड़की में न जाने कितने हाथ घुस रहे थे और न जाने कितनी आवाज़ें आ रही थीं—'दो टिकट अमरावती!' 'बाबू, साढ़े तीन आकोला, जल्दी देना। अरे गाड़ी तो छूटी जा रही है।', 'बाबू नासिक का एक टिकट……'

"ठहरो, ठहरो।" टिकट बाबू कहते जा रहे थे और पसीना पोंछते-

पोंछते एक-एक आदमी को निपटाते जा रहे थे। और उधर गाड़ी आने का वक्त हो रहा था। लोगों का धीरज छूटने लगा। तानेकशी शुरू हुई--'अरे भैया, दछिणा चढ़ाओ तब जल्दी टिकट मिलेगा।' एक बोले। 'बड़ी 'इनएफ़ीशियेंसी' (अव्यवस्था) है—'एक सूट पहने हुए साहब ने फ़र्माया। "हम स्टेशनमास्टर से शिकायत करेंगे,' तीसरे ने धमकाया।

लेकिन टिकट बाबू इन बातों को सुना-अनसुना करके अपना काम करते रहे। कभी-कभी नाराज़ हो जाते तो अपनी नाराज़ी—जो ताने कस रहे थे, उन्हें टिकट देर से देकर निकालने की कोशिश करने लगे। मैं पास ही खड़ा था, टिकट लेना बाकी ही था। मैंने अपने पास के मुसाफिरों से धीरे से कहा, "ज़रा ठहरिए भाई साहब! देखिए बेचारा बाबू कितना फँस रहा है। इस लड़ाई ने रेलवे कर्मचारियों पर तो बेहद काम का बोझा डाल दिया है, जिसमें छोटे-छोटे क्लर्कों का तो मरण है।"

"हाँ, हाँ, ठीक बात तो है।" एक खद्दरधारी सज्जन बोल उठे, "ज़रा धीरज से काम लो भाई, सबको टिकट मिल जायगा।"

उस ग़रीब टिकटबाबू पर इन शब्दों का अजीब असर पड़ा। "कुछ पूछिए मत बाबू साहब।" उसने सिर पर से टोपी उतारते हुए कहा, "ऐसी पिसायी हो रही है कि हिसाब नहीं। कम्पनी से स्टाफ़ बढ़ाने के लिए कहा तो 'न' में जवाब आया। मँहगाई-भत्ते के लिए दरख़्वास्त दी तो कहते हैं—विचार करेंगे। बड़ी मुसीबत है। ख़ैर! आपको कहाँ जाना है बाबू साहब?"

मुझे उसने फ़ौरन टिकट दे दिया। और उसी हो-हल्ले में पूछा, "आप यहीं रहते हैं?"

मैंने कहा, "हाँ।"

"लौटकर ज़रूर दर्शन दीजिएगा।" उसने वहीं से नमस्कार करते हुए कहा और उत्साह से खटाखट टिकट काट कर भीड़ छाँटना शुरू कर दिया।

छोटी-सी घटना है, लेकिन एक सबक सिखाती है। बात तो सच थी कि टिकट बाबू का काम बहुत बढ़ गया था। युद्ध के कारण सभी महकमों का यही हाल है। जिन्होंने ताने कसे उनके खिलाफ़ उसका दिल कड़ा हो गया। मैंने सहानुभूति दर्शायी तो उसका हृदय मोम-सा हो गया और उसने केवल मुझे ही नहीं बल्कि दूसरों को भी जल्दी-जल्दी टिकट देना शुरू किया। सहानुभूति के उन थोड़े से शब्दों ने उसे नयी ताक़त दी।

मेरे शब्द महज़ उसे ख़ुश करने के लिए नहीं कहे गये थे, वे सच्चे हृदय से निकले थे और वह बाबू भी उस सच्चाई को समझ गया। उसपर उनका तुरन्त असर हुआ। हो सकता है, उसके मन को उन शब्दों से कुछ सान्तवना मिली हो। और मुझे क्या क़ीमत देनी पड़ी? कुछ नहीं।

एक बार मैं बैंक में अपना हिसाब खोलने के लिए गया। क्लर्क मुझसे सवाल पूछता जाता था और पास बुक में दर्ज करता जाता था। मैंने देखा, उसके अक्षर दर असल बहुत अच्छे हैं। मैंने फ़ौरन कहा, "ज़रा पास-बुक दिखाइए तो, आपकी लिपि बहुत सुन्दर दीखती है।" और उसे नज़दीक से देखकर मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ ज़ोर से कहा, "ब्यूटिफ़ुल!" उस क्लर्क का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। बैंक के रूखे आँकड़ों से माथापच्ची करते-करते उसका तमाम दिन बीतता है। काम के उन नीरस घण्टों में उसे आनन्द का ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। कुछ अभिमान से और कुछ विनय से वह धीरे से बोला, "जी हाँ, मैनेजर साहब ने भी इस बारे में मेरी तारीफ़ की है। हाई स्कूल में मुझे हस्तलिपि के लिए पहला पारितोषिक भी मिला था।"

"कोई आश्चर्य की बात नहीं," मैंने कहा।

उसका वह आनन्द से खिला हुआ चेहरा अब भी मेरी आँखों के

सामने है। हो सकता है कि उस दिन शाम को उसने अपने दोस्तों से इस छोटी-सी घटना का ज़िक्र किया हो या अपनी पत्नी से यह बात अभिमान के साथ कही हो। उसमें एक गुण था। उसकी सच्चे मन से दाद दी गयी, इसलिए वह ख़ुश हो गया, शायद दूसरे क्लर्क उसके इस गुण के कारण उससे जलते हों और उन्होंने कभी प्रशंसा का एक शब्द भी न कहा हो। लेकिन आज तो उसके गुण की क़द्र की गयी।

मुझे भी बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं उन थोड़े से शब्दों द्वारा उस क्लर्क के जीवन में किंचितमात्र भी क्यों न हो, सुख तो पहुँचा सका।

ऐसे अवसर हमें हर दिन, हर घड़ी मिल सकते हैं। और ज़रा बारीकी से हम सोचें तो पायेंगे कि दूसरों को सुख देने की हमारी शक्ति अपरिमित है, बशर्ते कि हम उसके बारे में जागरूक रहें।

इससे फ़ायदा ?

क्या हम इतने स्वार्थी बने रहेंगे कि बग़ैर फ़ायदे के कोई काम न करें। यदि हमारी यही मनोवृत्ति रही तो लोग भी हमसे फ़ायदा निकालने के सिवा और किसी कारण ताल्लुक नहीं रखेंगे।

और इसमें फ़ायदा क्यों नहीं है ? क्या यह छोटी बात है कि मैं अपने एक भाई के जीवन में आह्लाद के कुछ क्षण दे सका ? यही वृत्ति यदि मैं अपने स्वभाव में पूरी तरह उतार सका तो न जाने कितने लोगों की सेवा मुझसे हो सकेगी ! और इस सत्प्रवृत्ति के कारण क्या लोग भी मुझे सुख और आनन्द पहुँचाने का यत्न न करेंगे ?

सीताफल के बीज बोने से सीताफल ही मिलेगा। धतूरे के बीज बोने से कभी अंजीर नहीं मिल सकते। दूसरों के सुख की हम चिन्ता करें तो अपने आप ही हमें सुख मिलेगा। दुनिया में हमेशा जैसे का तैसा मिलता है। 'झाँई' का पाठ हम सब ने बचपन में पढ़ा होगा। गड़रिये का बालक जब तक अच्छे शब्द बोलता रहा तब तक झाँई ने भी ठीक उत्तर

दिये। लेकिन जब उसने गाली देना शुरू की तो झाँई ने भी गाली दी। और जब बालक गुस्से में आकर कहने लगा कि 'मैं तुझे खा डालूँगा' तो झाँई ने भी उतने ही गुस्से से जवाब दिया कि 'मैं तुझे खा डालूँगा' जिसे सुनकर बालक घबड़ा गया और डर से रोने लगा। यही बात जीवन में भी लागू होती है।

हज़रत ईसा ने इसी तत्व को सीधे-सादे किन्तु अमर शब्दों में गूँथ दिया है—'Do unto others as you would have others do unto you !' (दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो जैसे बर्ताव की तुम ख़ुद अपेक्षा करते हो।)

एक बात का ज़रूर ध्यान रहे। गुणों की क़द्र करने का अर्थ चापलूसी करना नहीं है। झूठी प्रशंसा से उलटा ही असर होगा। सहानुभूति और गुण-ग्राहकता की तह में सचाई होनी चाहिए, हृदय की भावना होनी चाहिए, नहीं तो सब गुड़ मिट्टी हो जायगा।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफ़ेसर विलियम जेम्स का कथन है कि मनुष्य-स्वभाव की सबसे गहरी मूल प्रवृत्ति अपनी सच्ची प्रशंसा सुनने की होती है। उस बैंक-क्लर्क की लिपि की प्रशंसा मैं कर सका इसके लिए वह ख़ुश हो उठा। यह मनुष्य स्वभाव है।

प्रत्येक मनुष्य में कोई-न-कोई गुण रहता ही है। घोर पापी से पापी भी क्यों न हो, उसमें भी अच्छाई रहती है। ठीक उसी तरह जैसे कि बड़े-से-बड़े संत में भी कुछ दोष होते हैं। बस आप उस अच्छाई के तंतु को जगा दीजिए, उस व्यक्ति के हृदय की कुँजी आपके हाथ लग जायगी। इमर्सन का कथन है—"मैं जिस आदमी से मिलता हूँ वह किसी-न-किसी बाबत में मुझसे बड़ा है। इस तरह मैं उससे कुछ-न-कुछ सीखता ही हूँ।"

सच्ची सहानुभूति और ईमानदार गुण-ग्राहकता से बड़े-से-बड़े काम

आसानी से हो सकता है। कभी-कभी तो इनसे जीवन में उथल-पुथल मचाने वाली क्रान्तिकारी घटनाएँ हो जाती हैं। इटर्नल सिटी के अंग्रेज़ लेखक सर हॉलकेन के जीवन में ऐसी ही अद्‌भुत घटना हुई थी। वह एक लुहार का लड़का था। वह इतना मशहूर और सफल लेखक हुआ जिसने मरते समय २५ लाख डालर की जायदाद छोड़ी। बचपन में उसे कविता से बड़ा शौक था। उसे दाँते गेब्रियल रोज़ैटी की कविताएँ बहुत पसन्द आयीं, यहाँ तक कि उसने उन कविताओं की प्रशंसा में एक सुन्दर भाषण भी लिख डाला। वे कविताएँ उसके दिल को छू गयी थीं। भाषण की एक नकल उसने रोज़ैटी के पास भेज दी। रोज़ैटी उसे पढ़कर निहायत ख़ुश हुआ। उसने शायद सोचा होगा—इस लड़के में प्रतिभा है, तभी तो वह मेरी कविताओं की इस तरह दाद दे सकता है। रोज़ैटी ने उसे पत्र द्वारा बुलवाकर अपना सेक्रेट्री बना लिया। उसी सयय से हॉलकेन का जीवन-क्रम ही बदल गया। रोज़ैटी के सेक्रेट्री की हैसियत से उसका सम्बन्ध साहित्यिक कलाकारों से होने लगा जिनकी प्रेरणा से वह स्वयं एक महान लेखक बन गया। हृदय से निकली हुई सच्ची प्रशंसा का परिणाम ऐसा ही विचित्र होता है।

समाज में हमें अक्सर दो छोर की प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं। एक तो वे जो ठकुरसुहाती करते रहते हैं, जिसकी तह में तनिक भी सचाई नहीं रहती। ऐसे आदमियों के प्रति धीरे-धीरे घृणा पैदा होने लगती है। दूसरे वे हैं, जो न जाने अपने शब्दों को सोने या हीरे के मोल के समझते हैं और जो एक शब्द से भी दूसरे के प्रति गुणग्राहकता या प्रशंसा के भाव नहीं दर्शाते। हाँ, दूसरों की कमज़ोरियाँ और ग़लतियाँ तो वे बड़े चाव से बतायेंगे, लेकिन यदि उसी व्यक्ति ने कोई अच्छा काम किया तो फिर उनकी ज़बान से तारीफ़ का एक शब्द भी न निकलेगा। भाई, अगर किसी के दोष बतलाने में आप को इतना मज़ा

आता है तो उस बेचारे के गुणों की—वे कुछ तो होंगे ही—क़द्र करना भी तो आपकी ज़िम्मेदारी है। तभी तो वह समझेगा कि आप उसके सच्चे हितैषी हैं। हम अपने ही जीवन पर ज़रा नज़र डालें। न जाने कितनी बार हमने अपनी पत्नी वा पुत्र या छोटे भाई को उनकी ग़लतियों के लिए डाँटा होगा और उनके दिल को दुखाया होगा। लेकिन जो उत्साह हम डाँट लगाने में दिखाते हैं, वही हम उनके गुणों की या अच्छे कामों की प्रशंसा करने में कदापि नहीं दिखाते। जहाँ हम आनन्द की फुलझड़ियाँ आलोकित कर सकते हैं, वहाँ हम दुख और कटुता का ग्रहण लगा देते हैं और यह सिर्फ़ इसीलिए कि हम उनसे उम्र में बड़े हैं। बड़प्पन के साथ-ही-साथ कुछ उत्तरदायित्व भी हमारे कंधों पर आता है, यह हम भूल जाते हैं।

मालिक और नौकरों के व्यवहार में तो यह प्रवृत्ति और भी भीषण स्वरूप ले लेती है और इसीलिए घर में दिन भर चक-चक होती रहती है। यदि ज़रा चतुराई से काम लें और अपने आस-पास के लोगों को उनके अच्छे कामों के लिए शाबाशी दें तो वे दूने उत्साह से काम करने लगेंगे। काम भी अधिक अच्छा होने लगेगा और घर का वातावरण भी आनन्दमय हो जायगा।

कुछ लोग तो दूसरों को सुख देने में बड़े ही सिद्धहस्त होते हैं। उनका बर्ताव दिखाने का नहीं होता वरन् सच्चे हृदय से होता है। वे हर जगह, हर समाज में, हर समय लोकप्रिय होते हैं और कमरे में क़दम रखते ही आनन्द और क़हक़हे की ख़ैरात मचा देते हैं। अलीबाबा और चालीस चोर की कहानी के मुताबिक उनके हाथ में 'सम-सम खुल' की तिलस्मी कुँजी होती है और उनके सामने सारे दरवाज़े खुल जाते हैं। वे न केवल दूसरों को सुख पहुँचाने में ही क़ामयाब होते हैं बल्कि ख़ुद का सुख भी किसी भी बुरी-से-बुरी परिस्थिति में खोज़ निकालते हैं। विश्व का सारा आनन्द

मानो उन्हीं के लिए जुटाया गया है। उन्हें जीवन-कला मालूम है और उन्हें कभी दुख और निराशा नहीं भुगतनी पड़ती।

सिडने स्मिथ का शरीर बुढ़ापे में रोग-ग्रस्त और जर्जर हो गया था। फिर भी उसने अपने मित्र को एक पत्र लिखा—"मुझे गठिया, दमा और अन्य सात रोगों की शिकायत है लेकिन बाकी मैं बड़े मज़े में हूँ।"

गोल्डस्मिथ ने "सिटीज़न आफ द वर्ल्ड" में एक मज़ेदार घटना का ज़िक्र किया है। एक धनिक हीरे-जवाहरातों तथा क़ीमती वस्त्र और अलंकारों से आभूषित होकर भीड़ में से गुज़र रहा था। एक आदमी ने आगे बढ़कर उस धनिक को उसके अलंकारों के लिए धन्यवाद दिया। धनिक आश्चर्यचकित होकर पूछने लगा—"इसका क्या मतलब ? मैंने तो तुम्हें कोई हीरा या जवाहरात दिया नहीं है।"

"नहीं, लेकिन आपने उन्हें देखने का मौक़ा तो दिया। आप ख़ुद भी इससे ज़्यादा क्या कर सकते हैं ? आप में और मुझमें कोई फ़र्क नहीं, सिवा इसके कि आपको उनकी हिफ़ाजत की भी फ़िक्र करनी पड़ती है और मैं इस चिन्ता से बरी हूँ।"

आपने शायद मधु-मक्खियों को शहद इकट्ठा करते हुए देखा होगा तो पाया होगा कि वे गन्दे-से-गन्दे और कुरूप-से-कुरूप स्थानों में से भी शहद एकत्रित करती जाती हैं। इसी प्रकार यदि हम भी बुरी-से-बुरी, विपरीत परिस्थिति में भी सुख ढूँढ़ कर निकाल सकें तो हमारे जीवन में सदैव आनन्द का आलोक जगमगाता रहेगा, जिसके कारण न केवल हमारा ही जीवन बल्कि हमारे आस-पास के लोगों का जीवन और वातावरण मधुमय हो उठेगा।

मैं उपन्यास नहीं पढ़ता

जेल में मेरे साथ एक बुज़ुर्ग थे, जिनका राष्ट्रीय जीवन में बहुत ऊँचा स्थान है। वे अक्सर गम्भीर किताबें—जैसे उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, षट्-दर्शन पढ़ते या विवेकानन्द-रामतीर्थ ऐसे लेखकों की कृतियाँ पढ़ते थे। एक बार मेरे एक मित्र का किताबों का पार्सल आया जिसमें फिनलैण्ड के नौबल पुरस्कार विजेता एफ० इ० सिलैन्या की 'फालन एस्लीप व्हाइल यंग' (Fallan asleep while young) तथा पर्ल बक की 'गुड अर्थ' (Good Earth) पुस्तकें थीं। उन बुज़ुर्ग ने पुस्तकें पढ़ने के लिए माँगीं, लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि वे उपन्यास हैं तो तुरन्त लौटाते हुए कहा, "मैं उपन्यास नहीं पढ़ता।" सिर्फ़ इतना ही नहीं, उन्होंने अपने पुत्र को जो कालेज में पढ़ता था, पत्र लिखा कि तुम्हें उपन्यास पढ़ने में वक्त बर्बाद नहीं करना चाहिए।

यह सज्जन वृद्ध हैं, आदरणीय हैं। ज्ञान और अनुभव के लिहाज़ से तो मेरी योग्यता उनके चरणों के पास बैठने की नहीं है। फिर भी मेरी

नम्र राय में उपन्यासों के बारे में उनका यह पूर्वग्रह ठीक नहीं है। वे साहित्य के एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अंग के प्रति घोर अन्याय करते हैं।

लेकिन उनके इस एकांगी मत के पक्ष में सबल कारण हैं और उनसे इनकार नहीं किया जा सकता। आज के उपन्यास साहित्य में अच्छे उपन्यासों की अपेक्षा बुरे उपन्यासों की संख्या कहीं ज़्यादा है। कुछ तो नितान्त कुरुचि पूर्ण और संस्कारहीन हैं। 'पेरिस की सुन्दरी', 'मायाविनी' या ऐसे ही विलासिता को उभाड़ने वाले तथा विकृत मनोवृत्ति का पोषण करने वाले या जासूसी-तिलस्मी उपन्यास, किसका क्या भला कर सकते हैं, यह कहना कठिन है। एक हलके दर्जे का मनोरंजन उनसे होता है, लेकिन उसके साथ ही जो नैतिक अधः पतन होता है, वह तो ऐसी भारी हानि है, जिससे तरुणों की पीढ़ी-की-पीढ़ी बर्बाद हो सकती है। लेखक ऐसे उपन्यासों की रचना इसलिए करते हैं कि उनसे आमदनी अच्छी होती है, और प्रकाशक भी उनके आर्थिक पक्ष के लाभ को ध्यान में रखकर प्रकाशित करते हैं। इस हद तक तो मैं उन बुज़ुर्ग महाशय से पूरी तरह सहमत हूँ। गन्दे साहित्य जैसा भयंकर ज़हर और कोई नहीं हो सकता।

लेकिन इस कारण से समस्त उपन्यासों को गन्दा समझ कर झिड़क देना नासमझी है। अच्छे और बुरे दोनों तरह के उपन्यास मिल ही जाते हैं। चूँकि कुछ उपन्यास ख़राब होते हैं। इसलिए सभी उपन्यासों के खिलाफ़ जेहाद उठाना उचित नहीं है। मानव समाज में चोर, डाकू और ख़ूनी होते हैं इसलिए मनुष्य मात्र से द्रोह करना कहाँ तक न्याय-संगत है? हमें वाजिब और ग़ैर-वाजिब के बीच में फ़र्क़ तो करना ही होगा।

साहित्य के सब अंगों में उपन्यास जैसा सर्वप्रिय कोई अंग नहीं है। उसका कारण यह है कि मनुष्य के मन में कहानी के प्रति सदैव घोर

आकर्षण रहा है। हम बचपन में ही नानी की गोद में बैठकर 'कहानी सुनाओ' की रट लगाकर उस बेचारी बुढ़िया की नाक में दम कर देते हैं। और जब कहानी का राजा, दैत्य को मारकर राजकुमारी की रक्षा कर लेता है और बाद में उससे विवाह कर लेता है तो हम ताली पीटकर चिल्ला उठते हैं कि बड़ी अच्छी कहानी है। रामायण की लोकप्रियता की तह में केवल उसकी नैतिक शिक्षा ही नहीं है, तुलसीदास जी का वर्णन करने का जो सुरस और लालित्यपूर्ण ढंग है और मानव स्वभाव की मूल-भावनाओं का चित्रण करने की जो सुन्दर शैली है, उसी का यह प्रभाव है कि हम, कम पढ़े-लिखे किसान चपरासी या सिपाही से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक, झोंपड़ी से लेकर राजमहल तक, रामायण का प्रचार देखते हैं। अगर आप रामायण की शिक्षा का निचोड़ चन्द फ़िकरों में यों रख दें—कि पिता की सेवा करना पुत्र का कर्तव्य है, पातिव्रत प्रत्येक आर्य स्त्री का धर्म है, प्रजा का पुत्रवत पालन करना प्रत्येक राजा का कर्तव्य है आदि आदि—तो आप देखेंगे, ऐसी पुस्तक को पढ़ने वाले उँगली पर गिनने लायक़ ही मिलेंगे। लेकिन चूँकि इन शाश्वत नीति तत्वों का महत्व, दशरथ और राम के चारित्र्य से तथा सीता माता के जीवन के तत्वों से एक सुन्दर कहानी के रूप में व्यक्त किया जाता है, इसीलिए हम देखते हैं कि इस देश की असंख्य हिन्दी भाषी जनता इस ग्रन्थ को ईश्वर की वाणी मानकर पूजती है।

भारी-भरकम नीति-तत्वों को किसी के गले उतारने की कोशिश करें तो सिवा नाक़ामयाबी के कुछ हाथ नहीं लगेगा। उन्हीं को मनोहर कहानी के रूप में सुरस ढंग से पेश करें, फ़ौरन हज़म कर लिये जायँगे। कुनैन तो बेहद फ़ायदेमन्द चीज़ होती है, लेकिन उस पर शक्कर की पुट चढ़ाकर अगर हम दें तो एतराज़ क्यों होना चाहिए? ऐसी शर्करान्वित दवा तो बालक भी मज़े से चट कर जाते हैं।

अमरीका में नीग्रो लोगों की गुलामी का भीषण सवाल था, जिसके कारण अब्राहम लिंकन को कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और अन्त में उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा। हज़ारों भाषणों और लेखों से भी मानव जाति के इस भयंकर कलंक के ख़िलाफ़ जन-मत तैयार नहीं हो सका लेकिन हैरियट बीचर स्टो की एक ही अमर कलाकृति 'टाम काका की कुटिया' (Uncle Tom's Cabin) ने गुलामी प्रथा के विरुद्ध जंग का-सा असर पैदा कर दिया और जिसके कारण अमरीका में ऐसा भयंकर तूफ़ान उठा कि वह प्रथा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी।

रूस की राज्यक्रान्ति की नींव मैक्सिम गोर्की की 'माँ' (मदर) तथा अन्य उपन्यासों ने तथा तुर्गनेव, चेख़व और दोस्टोवस्की जैसे साहित्यिकों की कलाकृतियों ने डाली।

लेकिन इसी ज़माने का सबसे अद्भुत उपन्यास 'आल क्वाइट आन द वेस्टर्न फ्रन्ट' (All Quiet on The Western Front) है जो १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का लेखक एरिक मरिया रिमार्क, एक जर्मन था जो उन्नीस वर्ष की आयु में एक सिपाही की हैसियत से गत महायुद्ध में भरती हुआ था। उसने अपनी आँखों से, रणक्षेत्र में जो निर्दयता, नृशंसता और बर्बरता के वीभत्स दृश्य देखे, उससे उसकी आत्मा दहल उठी और हृदय पुकार उठा—'यह सब फ़िज़ूल है, फ़िज़ूल है।' उस पुस्तक में उसने अपनी आत्मा की चिर-वेदना उँडेल दी। युद्ध के ख़िलाफ़ घोर घृणा पैदा करने में तथा विश्व-शांति के लिए उचित वातावरण तैयार करने में उस पुस्तक ने इतनी मदद पहुँचायी कि उसके लेखक को नोबल पुरस्कार देकर गौरवान्वित किया गया। स्मरण रहे कि यह लेखक की पहली कृति थी। लेकिन समय का फेर देखिए कि उसी जर्मनी में, जब हिटलर की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, वह किताब ज़ब्त कर ली गयी क्योंकि उससे देश में लड़ाई की

मनोवृत्ति पैदा करने में बाधा पहुँचती थी और हिटलर जर्मनी को पहले से भी भयंकर महायुद्ध के लिए तैयार करना चाहता था।

बंग-भंग युग में बंगाल प्रान्त में जो राजनैतिक बवंडर उठा था, उसने सारे देश के सार्वजनिक जीवन को हिला दिया था। उस वातावरण की भूमिका में लिखा गया बंकिम बाबू का उपन्यास, 'आनन्द मठ' आज भी कई युवकों की प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। हमारे देश के हज़ारों-लाखों उत्सवों, समारंभों में गाया जाने वाला राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' उसी उपन्यास की देन है। शरत् बाबू के 'पथेर दायी' (पथ के दावेदार) में भी एक प्रतिभाशाली, एक तेजस्वी क्रान्तिकारी का चित्रण है। यह उपन्यास पहले कुछ समय तक ज़ब्त रहा, फिर उस पर से रोक उठी और फिर वह ज़ब्त हो गया। हिन्दी के उपन्यास सम्राट स्वर्गीय प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' का असर कई युवकों पर पड़ा है। मैं ऐसे कुछ तरुणों को जानता हूँ जिन्होंने रंगभूमि के नायक विनयकुमार से प्रेरणा पा कर सन् १९३० के राष्ट्रीय संग्राम में भाग लिया था, जेलखाने की यातनाएँ सही थीं और तबसे वे बराबर राष्ट्रीय कामों में योग देते रहे हैं। रूस की राज्य क्रान्ति ने माईखेल शोलोखोव्ह की 'एण्ड क्वाइट फ्लोज़ द डॉन'' (And Quiet Flows The Don) और 'वर्जिन सॉयल अपटर्न्ड' (Virgin Soil Upturned) नाम के ऊँचे दर्जे के उपन्यास दिये हैं जिस से वर्तमान रूस की समाज व्यवस्था की ठीक तस्वीर मिल जाती है।

दुनिया में फैसिस्तवाद और प्रजातन्त्रवाद के बीच में द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में जो भयंकर युद्धाग्नि धधकी थी, उसने सन् १९१४-१८ के महासमर को बिलकुल पीछे ढकेल दिया है। इस युद्ध के कारण कई अपूर्व और नयी शक्तियाँ पैदा हो रही हैं जो विश्व के समस्त देशों में सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्ति की नींव खड़ी कर रही हैं। इतनी प्रलयंकर

उथल-पुथल मानव जीवन के इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तान भी इन विश्व-शक्तियों के असर से बचा नहीं है। ज़ाहिर है कि इस ऐतिहासिक ज़माने की भूमिका पर जो साहित्य लिखा जायगा, वह निसंस्देह उच्चकोटि का होगा और हम इस संभावना की ओर बड़ी आशाप्रद दृष्टि से देख सकते हैं।

मराठी में स्व० हरिभाऊ आपटे के 'गड आला पण सिंह गेला' उपन्यास ने—जिसमें नाना जी के सिंहगढ़ के आक्रमण तथा इसके आत्मोत्सर्ग की वीरगाथा है—महाराष्ट्र में राष्ट्रीयता की भावना का खूब संचार किया, जिसके कारण लोकमान्य तिलक के काम को बड़ी सहायता मिली। स्व० वामन मल्हार जोशी की 'रागिणी' भी उस प्रान्त की सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिबिम्ब है, जिससे कई युवकों को प्रेरणा मिली है।

यहाँ तो मैंने कुछ थोड़े ही से ऐसे उपन्यासों का ज़िक्र किया है, जिनके कारण समाज को लाभ पहुँचा है और पाठकों का कल्याण हुआ है। विश्व के कथा-साहित्य के विशाल क्षेत्र में हम यदि अधिक भ्रमण करें तो ऐसी और भी कई कलाकृतियाँ मिल सकती हैं। इन्हें खोकर तो हम मानव जाति के चिन्तन और भाव-व्यंजना को एकदम ग़रीब कर देंगे। निस्संदेह इन उपन्यासों का अवमान किसी हालत में नहीं किया जा सकता।

दार्शनिक या नीति-शास्त्रज्ञ तो लाठी के सहारे क़दम-क़दम चलता है, लेकिन उपन्यासकार पंखों पर उड़ता है। एक घंटे में जहाँ तत्ववेत्ता अपनी भूमिका बाँधता है वहाँ कथा-लेखक उन्हीं तत्वों को लेकर अपनी कहानी की अंतिम मंज़िल पर पहुँचता है और उसके पीछे पाठकों का मजमा दौड़ा-दौड़ा चला आता है। शास्त्रज्ञ के विवेचन में तो लोग जँभाई लेने लगते हैं, लेकिन उपन्यासकार हँसता-खेलता हुआ आप को

सफ़र कराता है। इन्हीं कारणों से उसकी शक्ति बड़ी है और उसी परिमाण में उसकी ज़िम्मेदारी भी गहरी है।

सर जान हर्शल ने अंग्रेज़ी लेखक रिचर्डसन के 'पामेला' नामक उपन्यास के बारे में एक बड़ी मनोरंजक घटना बतलायी है। उस उपन्यास को एक लुहार रोज शाम को अपनी दूकान पर पढ़ा करता था, जिसे सुनने के लिए उस गाँव के लोगों की ख़ासी भीड़ लग जाती थी। वे लोग बड़े ध्यान से उस कहानी को सुनते थे, बीच-बीच में अपनी राय, खुशी, दुख इत्यादि भी ज़ाहिर करते जाते थे। अन्त में जब नायक और नायिका का मिलन हुआ तो श्रोतागण खुशी के मारे नाच उठे और इतने आनन्द-विभोर हो गये कि उसी उत्साह में पादरी से चाबी लेकर उन्होंने गिरिजाघर खोला और उसके घण्टे बजाने लगे।

इसी कारण, मैं कह चुका हूँ कि उपन्यास-लेखक के कंधे पर गहरा उत्तरदायित्व है। बुरे उपन्यास द्वारा वह समाज को बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचा सकता है और इसलिए उसे बहुत सावधान होने की ज़रूरत है

अभी उस दिन मैंने बम्बई के अख़बार में एक समाचार पढ़ा कि तीन कम उम्र के बालक रात को एक दूकान के काँच की 'शो-विन्डोज़' फोड़ते हुए पकड़े गये। पुलिस को अंदेशा हुआ कि उनकी नीयत चोरी करने की थी। जब उन्होंने दूसरे दिन उन्हें अदालत में पेश किया तो लड़कों ने कहा कि परसों रात को हमने अमुक फ़िल्म देखा था, जिसमें डाकुओं के सरदार की कहानी थी, जिसके कारण हमें भी उसके नेता का अनुकरण करने की इच्छा हुई। हमारी नीयत चोरी करने की क़तई न थी। मैजिस्ट्रेट ने उनके कथन पर विश्वास किया और उन्हें ताक़ीद करके छोड़ दिया। लेकिन वर्तमान फ़िल्मों के ऊपर मैजिस्ट्रेट ने काफ़ी छींटें कसे, उनकी घोर निन्दा की और जनता को भी सलाह दी कि वे अपने बच्चों को बुरे प्रभाव से बचायें। जो परिणाम बुरी फ़िल्म देखने से होता है, ठीक वही बुरे

उपन्यास के पढ़ने से हो सकता है। इसलिए ऐसे उपन्यासों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना ज़रूरी हो जाता है।

पढ़े-लिखे समझदार बुजुर्गों को उपन्यासों से जो सबसे बड़ी शिकायत है, वह यह कि उनमें 'सेक्स' (यौन सम्बन्धी) भावनाओं को उभारने की सामग्री रहती है और इसका कच्ची उम्र के युवक और युवतियों पर बुरा असर पड़ता है। इस शिकायत से भी कोई एतराज़ नहीं, तरुण पीढ़ी के हितचिन्तक को इस प्रकार के सेक्स प्रधान उपन्यासों से चिन्ता होना स्वाभाविक है। किन्तु यह प्रश्न इतने आसान तरीके से, साधारण प्रयत्न करने से, हल नहीं किया जा सकता। हमें इसकी तह में जाकर विचार करना होगा।

मनुष्य की दो मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जो आदिम काल से चली आ रही हैं। वे हैं, आत्मरक्षा की भावना (Self preservation) और वंश रक्षा (Race preservation) सेक्स का सम्बन्ध इसी दूसरी प्रवृत्ति से है। विश्व की सबसे बड़ी शक्ति है — प्रेम। 'सेक्स' उसी शक्ति का एक स्वरूप है। प्रेम के कई रूप होते हैं और उनमें अच्छी, अधिक अच्छी या बुरी श्रेणियाँ होती हैं। सबसे हलके रूप में प्रेम का रूप वासनायुक्त, पाशविक, लैंगिक सम्बन्ध है, जिसका खुला प्रदर्शन समाज में निषिद्ध माना जाता है और साहित्य में भी वह हानिकारक है। किन्तु इसी प्रेम की और भी ऊँची श्रेणियाँ होती हैं, जैसे पति-पत्नी का दाम्पत्य प्रेम, गार्हस्थ्य जीवन का प्रेम, समाज निष्ठा अर्थात् समष्टि प्रेम, देश भक्ति अर्थात् राष्ट्रप्रेम, विश्व-बन्धुत्व अर्थात् समस्त मानव जाति का प्रेम, और परब्रह्मत्व यानी ईश्वर प्रेम और उसमें लीन हो जाने की भावना। प्रेम के ये सब विविध रंग-रूप हैं। यह भावना मनुष्य स्वभाव की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है और विश्व के बड़े-से-बड़े साहित्य को इसी से बल और जीवन मिला है।

इसलिए हम सरसरी तौर पर यह कह दें कि प्रेम-प्रधान उपन्यासों से

समाज का अहित होता है तो मेरी अदना राय में, ग़लत है। हाँ जिसमें वासनामय पाशविक प्रेम का निर्लज्ज प्रदर्शन है, वह तो दरअसल बुरी चीज़ है। इस प्रकार के उपन्यास इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका में काफ़ी निकल चुके हैं। अंग्रेज़ी में आधुनिक सेक्स उपन्यास की प्रणेती एक स्त्री है, जिसका नाम एलिनॉर ग्लिन है। सितम्बर १९४३ में ७८ वर्ष की अवस्था में इसकी मृत्यु हुई। इस लेखिका के उपन्यास 'थ्री वीक्स' को १०,००० पौण्ड (सवा डेढ़ लाख रुपये के करीब) मिले थे। लेखिका का जीवन भी उसके उपन्यासों की तरह स्वच्छन्द था। इसी तरह ऐसे उपन्यासों की कमी नहीं है जो वासनाओं को प्रदीप्त करते हैं। निस्संदेह इनसे समाज का घोर अकल्याण हो सकता है और इनका प्रचार जितना कम हो उतना अच्छा।

लेकिन कई ऐसे उपन्यास होते हैं जिनमें सेक्स भी एक पहलू होता है, लेकिन वही सर्वप्रधान वस्तु नहीं होती। लेखक सिर्फ़ उसी पक्ष पर ज़ोर नहीं देता। सेक्स से पैदा होने वाली घटना जीवन की दुर्घटना (ट्रेजेडी) को घनीभूत करती है और पुस्तक पढ़ने के बाद हमारे मन पर जो असर होता है, वह सेक्स भावना का नहीं, किन्तु उस जीवन नाटक की महान ट्रेजेडी का, मानव जीवन की असहायता या व्यर्थता की भावना का होता है। जैसे हार्डी की टैस (Tess)। इसमें नायिका के असीम दुःखों का प्रारम्भ सेक्स की दुर्घटना से ही होता है, लेकिन आगे चलकर यह चीज़ इतनी गम्भीर, गहरी और दिल को दहला देने वाली हो जाती है कि पाठक का हृदय असीम अनुकम्पा, करुणा और विकलता की भावनाओं से भर जाता हैं। टालस्टाय के 'रिज़रेक्शन' में भी आपको यही बात मिलेगी। प्रणय के खेल में पुरुष तो मौज करके अलग निकल भागता है, लेकिन स्त्री को उस निर्मम खेल की भयंकर क़ीमत जीवन के अन्त तक चुकानी पड़ती है। टालस्टाय की ही 'अन्ना केरेनिना' में भी एक विवाहिता स्त्री

के पर-पुरुष-गमन का चित्रण है, लेकिन इस वासना-क्रीड़ा का पर्यवसान इतना भयंकर हुआ है कि नायिका के लिए चलती हुई रेलगाड़ी के पहियों के नीचे अपनी जान दे देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं बच रहा है। चूंकि इन उपन्यासों में वासना के अभिनिवेश का चित्रण है, इसलिए हम उन्हें गन्दा या कुरुचिपूर्ण समझने लगें, तो हम विश्व के इन अमर कलाकारों के प्रति अन्याय करेंगे।

रूसी लेखक अलेक्ज़ेंडर कुप्रिन की यामा (Yame the Pit) पुस्तक कथा साहित्य के इतिहास की बड़ी विचित्र घटना है। यह उपन्यास वेश्या-व्यवसाय का यथार्थ चित्रण करते हुए इस भयंकर सामाजिक प्रश्न पर दुनिया के चिन्तकों और समाज-सुधारकों का ध्यान खींचता है। पहले-पहल जब यह उपन्यास रूस में प्रकाशित हुआ तब बड़ी खलबली मची। सेन्सर की कैंची ने उसपर कठोर आघात किया। किन्तु समय के गुज़रते, जनता ने लेखक के मन्तव्य को सही अर्थों में ही नहीं वरन् उसके निःस्वार्थ और ईमानदार दृष्टिकोण को भी समझा। इस अप्राकृतिक, अमानुषिक सवाल के प्रति जन-मत प्रक्षुब्ध हुआ और लोगों को पहली बार अनुभव हुआ कि वेश्या-व्यवसाय के वाह्य स्वरूप के पीछे कितनी भयंकर वेदना, बेबसी, कष्ट-भोग और नृशंसता छिपी हुई है। वेश्या घृणा की नहीं, दया की पात्र है। इस पुस्तक की बीस लाख से ज़्यादा प्रतियाँ बिक चुकी हैं और यह उपन्यास अब तक फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, इटैलियन, जापानी, स्वीडिश, फिनिश, नार्वेजियन, बोहोमियन, हंगारियन, अंग्रेज़ी, पोलिश, लिथुआनियन, हिन्दी और लगभग संसार की समस्त भाषाओं में अनुवादित हो चुका है। इस पुस्तक के यश के बारे में लेखक कहता है कि इसकी लोकप्रियता के पीछे पाठकों की अनुचित चिकित्सा-बुद्धि नहीं है। और जैसा कि कुप्रिन ने स्वयं लिखा है, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि यामा ने कई लोगों को वेश्या-व्यवसाय के बारे में

सहानुभूतिपूर्वक सोचने के लिए मजबूर किया है।" लेखक का यह विश्वास सही है। यह पुस्तक 'युवकों और माताओं को' समर्पित है।

इन उदाहरणों से यही बात बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी उपन्यास में प्रणय या सेक्स की ज़रा सी हवा देखकर ही 'हरे राम, हरे राम', 'अनर्थ हो गया' इत्यादि नहीं पुकार उठना चाहिए। उपन्यास की अच्छाई या बुराई तो लेखक के मूल हेतु, चित्रीकरण और अन्तिम प्रभाव पर निर्भर होती है। किसी एक ख़ास चीज़ को उसके संदर्भ से उठाकर यह कहने में कि देखो, यह गन्दगी है, हम लेखक के प्रति अन्याय करते हैं। इस पैमाने से नापने में तो हमें टालस्टाय, चेख़व, गोर्की, एमिल ज़ोला, बालज़ाक, जोज़ेक कोनराड, विक्टर ह्यूगो, स्ट्रिंडबर्ग, हार्डी, शरच्चन्द्र आदि कलाकारों का निर्वासन करना होगा।

हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो किसी भी अच्छी-से-अच्छी पुस्तक में से बुरी चीज़ निकालने का ग़ज़ब का माद्दा रखते हैं। टालस्टाय के उन नीति-तत्वों के बजाय उसके प्रेम-वर्णन के परिच्छेदों का उनपर ज़्यादा असर पड़ता है। ऐसे लोगों के लिए क्या किया जाय? इस प्रवृत्ति के लोग यदि रामायण पढ़ने के बाद सीताहरण की घटना से दूसरे की स्त्री भगा ले जाने का सबक सीखें या लक्ष्मण-शूर्पणखा-प्रकरण से नारी पर हाथ उठाना जायज़ समझें तो इसमें तुलसीदास जी का क्या दोष? जिस की जो दृष्टि होगी उसे वैसा ही दीख पड़ेगा। उसकी जैसी ग्रहण शक्ति होगी, वही वह हज़म कर सकेगा। यहाँ पर एक कथा बरबस याद आती है—

एक बिल्ली घूम कर लौट आयी। उससे पूछा गया—"ऐ बिल्ली, तू कहाँ गयी थी?"

"मैं रानी के महल में गयी थी।"

"ओहो! वहाँ तूने क्या देखा?"

"वहाँ मैंने कुरसी के नीचे एक चूहा देखा।"

उस बिल्ली को न तो रानी दिखी, न उसके जवाहर और न आभूषण और न वहाँ की दास-दासियाँ। दिखा तो सिर्फ़ चूहा ही दिखा। ऐसी दृष्टि के लोग किसी भी उपन्यास से वही चीज़ पायेंगे जो उनके मन की आँखों में है। इसमें उपन्यास का कोई दोष नहीं है।

अन्त में यह प्रश्न उठ सकता है कि अच्छे उपन्यासों की पहचान क्या है? इसका विस्तृत उत्तर तो क्या दिया जा सकता है? लेकिन साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि वे उपन्यास अच्छे हैं, जिनके पढ़ने से समस्त मानव-जाति के प्रति श्रद्धा विचलित नहीं होती, नारी-जगत के प्रति सम्मान बढ़ता है, जिनसे हमारी सत्प्रवृत्ति और प्रगति भावना का पोषण होता है, जिनसे गृह, समाज, देश और धर्म के प्रति निरादर नहीं फैलता तथा जिनसे हमारी कर्त्तव्य बुद्धि और नैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक उपन्यास में हमें सब बातें नहीं मिलेंगी। कहीं कुछ, कहीं कुछ दिखायी देगा। मुख्य बात यही है कि मनुष्य मानव-द्रोह करना न सीखे, जो साहित्य मावन-प्रेमका संदेश दे वही अच्छा साहित्य है। उसका स्वागत करना चाहिए। इसमें उपन्यास का अपना स्थान है।

———